अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

अक्तूबर 2022

सच्चे जीवन के लिए
पथ-प्रदर्शन

विषय-सूची

सच्चे जीवन के लिए पथ-प्रदर्शन

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

प्रार्थना	३
उपलब्धि का द्वार	५
आन्तरिक सत्ता की हृदय-गुहा में	६
जीवन के पथ का दीया	१०
आन्तरिक उपस्थिति के बारे में सचेतन होना	१३
चैत्य तथा आध्यात्मिक मातृत्व	१७
सच्चे बच्चे बन जाओ	१९
एक साधक को दिलासा	२१
बालवत् पथ	२२
बालवत् विश्वास	२३
बिल्ली के बच्चे का मनोभाव तथा व्यक्तिगत प्रयास	२५
पृथ्वी पर भागवत सत्य की प्रतिष्ठा के लिए	२६
हमारी वर्तमान अपूर्ण प्रकृति के पीछे	२८
रूपान्तर के योग के लिए कार्य की आवश्यकता	२९
'भगवान्', 'प्रकाश', 'स्वाधीनता', 'अमरता'	३१
जीवन का दिव्यीकरण	३३
भगवान् की ओर आरोहण : तीन तरीक़े	३४
योग में सिद्धि	३७
सच्चे जीवन की कुञ्जी	३९
परिशिष्ट : टी.वी.कपाली शास्त्री के अवलोकन	४१

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		४२
भागवत चेतना के साथ नाता जोड़ना	नवजातजी	४४
स्वर्ग के देवता भी होड़ लगायें...	वन्दना	

प्रार्थना

१२ मार्च १९१४

हे प्रभो, मेरी एकमात्र अभीप्सा है कि मैं प्रतिदिन तुझे ज़्यादा अच्छी तरह जानूँ और तेरी सेवा करूँ, बाहरी परिस्थितियों का क्या मूल्य है? वे दिन-पर-दिन मुझे अधिक बेकार और भ्रामक मालूम होती हैं, बाहरी जीवन में हमारे साथ क्या होने वाला है इसमें मैं कम-से-कम रुचि रखती हूँ, लेकिन दिन-प्रतिदिन मैं एक बात में अधिक तीव्र रस लेती हूँ जो मुझे महत्त्वपूर्ण मालूम होती है : अधिक अच्छी तरह तेरी सेवा करने के लिए तुझे ज़्यादा अच्छी तरह जानना। सभी बाहरी घटनाओं को इस लक्ष्य पर और केवल इसी लक्ष्य पर केन्द्रित होना चाहिये और इसके लिए सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि हम उनके प्रति कौन-सा मनोभाव अपनाते हैं। सभी चीज़ों में सदा तुझे खोजना, हर परिस्थिति में तुझे हमेशा अच्छे-से-अच्छी तरह अभिव्यक्त करना चाहना, इस मनोभाव में निवास करती है परम 'शान्ति', पूर्ण निरभ्रता, सच्चा सन्तोष। इसमें जीवन खिलता है, विशाल होता है, इतने शानदार तरीक़े से इतनी राजसी लहरों में फैलता रहता है कि फिर कोई भी तूफ़ान उसे क्षुब्ध नहीं कर सकता।

हे प्रभो, तू ही हमारी सुरक्षा, हमारा एकमात्र सुख है। तू हमारा समुज्ज्वल प्रकाश, हमारा शुद्ध प्रेम, हमारी आशा और हमारा बल है। तू ही हमारा जीवन और हमारी सत्ता की वास्तविकता है!

सादर और आनन्दभरी आराधना में लीन मैं तुझे प्रणाम करती हूँ।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. ५९-६०

ममतामयी माँ

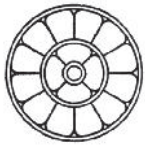

उपलब्धि का द्वार

... जिस क्षण तुम यह कल्पना करते हो और किसी-न-किसी तरह अनुभव करते हो, या, प्रारम्भ में, इतना मान भी लेते हो कि भगवान् तुम्हारे अन्दर हैं और साथ ही तुम भगवान् के अन्दर हो, उसी क्षण उपलब्धि का दरवाज़ा खुल जाता है, ज़रा-सा, बहुत नहीं----बस, थोड़ा-सा। उसके बाद यदि अभीप्सा आती है, जानने और होने की तीव्र आवश्यकता अनुभव होती है, तो वह तीव्र आवश्यकता खुले भाग को चौड़ा कर देती है, यहाँ तक कि तुम उसमें रेंग कर जा सकते हो। जब तुम उसमें प्रवेश कर जाओ तो तुम्हें पता लगता है कि तुम क्या हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. २६३-६४

आन्तरिक सत्ता की हृदय-गुहा में

... आन्तरिक सहारा पाने के लिए वहाँ, उस अमित हृदय-गुहा में पैठना चाहिये, हमें नीचे और नीचे, ज़्यादा-से-ज़्यादा नीचे, स्तर पर स्तर, चेतना पर चेतना पार करते हुए, सब संस्कारों को पीछे छोड़ कर, निरभ्र शान्ति को पाने के लिए एकदम तल तक प्रवेश करना चाहिये। सत्ता की इस अपरिमित शान्त-नीरवता में, बाहर के शोरगुल से दूर, पीड़ा और कसक से दूर, सब विचारों और कल्पनाओं से परे, दूर, सुदूर, संवेदनों की तरंगों से दूर, जहाँ अहं का कोई नामोनिशान न हो, वहाँ उस 'परम उपस्थिति' को अनुभव करने के लिए बहुत सावधानी से प्रवेश करना चाहिये। इससे भी और आगे जाना है, और अधिक ढूँढ़ने को है, अपनी चेतना को अन्दर की ओर मोड़ना है जहाँ वह सर्व-समर्थ 'शक्ति' स्पन्दित हो रही है जो सब कुछ संसिद्ध करती है। और भी गहरे उतरना है जहाँ कोई क्रिया-कलाप नहीं, कोई संस्कार नहीं, अहं नहीं, अलग अस्तित्व नहीं, कुछ भी नहीं, हैं बस केवल आनन्द की हिलोरें और एक स्पन्दन जो हर चीज़ के मूल में है, इस तरह, सम *(मुद्रा)*, और सम्पूर्ण समभाव का स्पन्दन। ओह, इस पूर्ण और निश्चल शान्ति को महसूस करना, इसके साथ एक हो जाना... और फिर इस शुभ्र-अमल आनन्द में प्रवेश करना जहाँ चेतना केन्द्रीय सत्ता के साथ पूरी तरह तदात्म हो जाती है। वहाँ, वहाँ कोई द्वैत नहीं रह जाता, कोई सत्ता नहीं रह जाती, बिलकुल शून्य—वहाँ उस 'अमर जोत', 'अन्तर्यामी', 'अद्वितीय' और 'एकम्' 'भगवान्', 'परमात्म' के इस स्फुलिंग के साथ तदाकार हो जाना जो हम सबमें वास करता है।

और इस पावनकारी 'जोत' के और भी तल में वास करते हैं श्रीअरविन्द—'सनातन परमानन्द', 'सर्वसमर्थ', 'अजेय', हमारी सत्ता के 'अधीश्वर', जीवन में अभिव्यक्त 'सर्वव्यापी' भगवान्, 'अपने' कार्य-सम्पादन में 'सर्व-समर्थ', 'परमा शक्ति' की अभिव्यक्त 'सर्वज्ञता'; वे जो हमारा 'लक्ष्य' भी हैं, 'स्वामी' भी और हमारे 'प्रियतम सखा' भी—और इस सबके होते हुए भी वे हैं 'परम प्रभु, परमेश्वर'।

जब कोई सचमुच 'उन्हें' पुकारता है तो श्रीअरविन्द वहीं से *(माँ हृदय-केन्द्र की ओर इशारा करती हैं)* उत्तर देते हैं। यह स्पन्दित है 'उनके नाम' से,

'उनकी चेतना' से, वहाँ गूँज है श्रीअरविन्द के नाम की क्योंकि 'वे' अंकित हैं वहाँ। *(मुद्रा)*

अतल गहराइयों में 'उन्हीं' का निवास है—सारी सत्ता 'उन्हीं' के कारण प्राणवन्त है। 'उन्हीं' के द्वारा स्पन्दित है। समस्त भूमण्डल में 'उन्हीं' के स्पन्दन फैले हैं। 'वे' विराजते हैं सर्वत्र, जीवन्त है 'उनकी उपस्थिति', फूँक रही है प्राण अखिल भुवन में।

'उनके नाम' का परम आनन्द सबके मर्म को भेद जाता है, उन्हें पवित्र कर देता है, सत्य सनातन पावन हर्ष-निनाद के साथ बज उठता है, गूँज उठता है वह 'नाम' सर्वत्र। 'उनके नाम' से जीवन सार्थक हो उठता है।

अखिल विश्व में, सकल चराचर में छिपे उन 'अन्तर्यामी भगवान्' को फिर से खोज निकालना... 'उन्हें' पाना है चिरन्तन खेल। उनको अनुभव करने का अर्थ है पूर्ण 'पवित्रता' की निर्विकार 'शान्ति' को अनुभव करना। 'उनको' पा लेने का अर्थ है शाश्वत 'आनन्द' की प्राप्ति। 'उनको' पुकारने का अर्थ है 'अनन्त' के बन्द द्वारों को खोलना। ऐसी है श्रीअरविन्द के नाम की महिमा। *(माँ ध्यान में डूब जाती हैं)*।

तो यह है कृतज्ञता का मतलब : 'भगवान्' हैं और उनके प्रति अनवरत कृतज्ञता-ज्ञापन के द्वारा एक अलौकिक आनन्द हमारी सारी सत्ता को एक भव्य आत्मोत्सर्ग के भाव से भर देता है और हम शान्त पूजा-भाव में अपनी सत्ता के 'परम अधीश्वर' को स्वयं को समर्पित कर देते हैं।

लेकिन माँ, श्रीअरविन्द ने हमेशा कहा है कि 'आप', 'आप' हैं हमारे अन्दर।

हाँ, यह सच है, बिलकुल ठीक।

मैं, मैं उस 'शाश्वत जोत' में एक 'उपस्थिति' की तरह हूँ, एक 'शक्ति' की तरह हूँ जो काम को शुरू करती है, उसमें जान फूँकती है, एक 'शान्ति' हूँ जो सब कुछ मधुमय और शान्त कर देती है, एक 'आनन्द' हूँ जो छलका पड़ता है और ऊपर उठा लेता है, एक 'ज्योति' हूँ जो पवित्र करती है और हूँ एक 'स्पन्दन' जो अनुमन्ता है।

श्रीअरविन्द वहाँ हैं प्रतिपालक 'विभूति' के रूप में और मैं हूँ वहाँ

'मार्गदर्शक' के रूप में। वास्तव में हम एक ही हैं दो रूपों में। एक, जो निरीक्षण करता है—'साक्षी', दूसरा जो कार्य सम्पन्न करता है—'शक्ति'।

जब तक व्यक्ति यह बात अनुभव नहीं कर लेता, तब तक वह कुछ नहीं समझ सकता।...

हाँ, मेरे वत्स, जो मुझे और श्रीअरविन्द को पहचान लेते हैं—असल में तो यह एक ही बात है, हम दोनों एक ही हैं,—उनके लिए 'सत्य' की ओर जाने के पथ में आयी सब बाधाएँ, सब कठिनाइयाँ, सब फन्दे और तथाकथित अड़ंगे बुहार दिये जाते हैं और सदा के लिए खदेड़ दिये जाते हैं,—इस जीवन में, मरणोपरान्त और आगामी जीवनों तक के लिए भी —'शाश्वत काल' तक।

हाँ, उनके लिए श्रीअरविन्द सर्वशक्तिमान् हैं।

बस, केवल इतना ही जपना है :

"माँ—श्रीअरविन्द, माँ—श्रीअरविन्द"... *(ध्यान में डूब जाती हैं)*।

(श्रीमाँ के साथ मोना सरकार द्वारा स्मृति से अंकित बातचीत का अंश)

'परम', पुस्तक से, पृ. ७९-८०

जो कुछ मैंने तुम्हें बताया है उसे याद रखो। मुझे ढूँढ़ने का कष्ट करो। जो पथ मैंने तुम्हारे सम्मुख प्रशस्त किया है उसका अनुसरण करो। इस कार्य के समान महत्त्वपूर्ण कार्य और कुछ भी नहीं है। इसके साथ किसी की तुलना नहीं हो सकती। केवल 'भगवान्'। 'भगवान्' को पाना। यही है जीवन, यही है लक्ष्य, यही है आनन्द। 'भगवान्' से 'प्रेम करना' ताकि 'वे' हमेशा तुम्हारे साथ रहें। 'उन्हें' ही सब कुछ करने दो। 'वे' तुम्हारे साथ रह कर काम करते हैं। तुम्हारे साथ श्रम करते हैं। हर पल तुम्हें रास्ता दिखलाते हैं।

'परम', पुस्तक से, पृ. ९७ श्रीमाँ

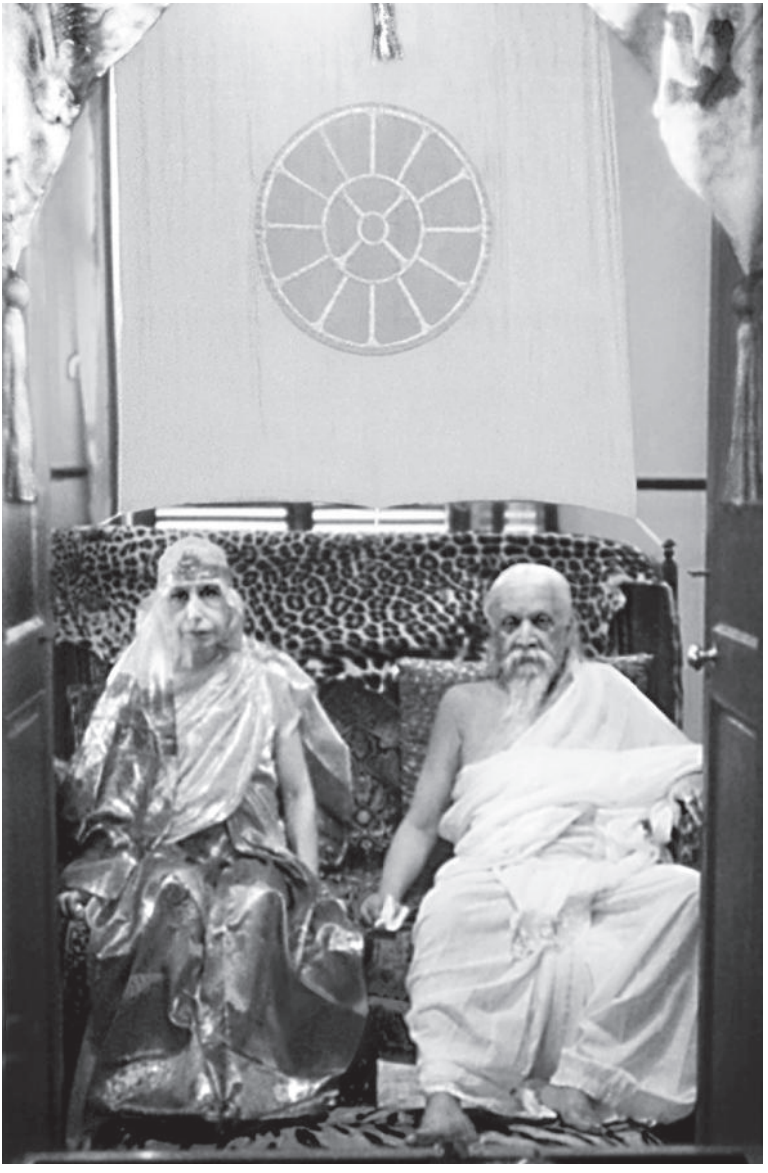

"माँ-श्रीअरविन्द"

जीवन के पथ का दीया

... जो व्यक्ति भगवान् की खोज में, अगम्य शिखर की ओर सीढ़ी-पर-सीढ़ी चढ़ने का प्रयास करता है वह यह भूल जाता है कि उसका समस्त ज्ञान, उसकी समस्त अन्तर्दृष्टि उसे इस असीम की ओर एक पग भी आगे नहीं ले जा सकते, और वह यह भी नहीं जानता कि वह जिसे प्राप्त करना चाहता है और जिसे अपने से इतनी दूर समझता है, वह उसके अन्दर ही विद्यमान है।

और वह उस आदि स्रोत के विषय में कुछ जान भी कैसे सकता है जब तक कि वह अपने अन्दर उस स्रोत के बारे में सचेतन न हो जाये?

अपने-आपको समझ कर, अपने-आपको जानना सीख कर ही मनुष्य यह परम आविष्कार कर सकता है और तब आश्चर्यचकित होकर बाइबल के बिशप की भाँति बोल पड़ता है: "अरे, यहीं तो है भगवान् का आवास, और मैं जानता न था।" इसलिए समस्त भौतिक जगत् की सृष्टि करने वाले इस उत्कृष्ट विचार को हमें व्यक्त करना होगा, समस्त पृथ्वी और आकाश में व्याप्त यह वाणी सबके कानों तक पहुँचानी होगी: "मैं प्रत्येक वस्तु में हूँ और प्रत्येक प्राणी में हूँ।"

जब सब लोग इस बात को जान जायेंगे तब वह दिन, जिसकी प्रतिज्ञा की गयी है, महान् रूपान्तर का वह दिन समीप आ जायेगा। मानव जब 'जड़-पदार्थ' के प्रत्येक अणु-परमाणु में उसके अन्दर रहने वाले 'भगवान्' की इच्छा को देखने लगेगा, प्रत्येक प्राणी में 'भगवान्' की किसी भंगिमा की ही झलक देखेगा, और जब प्रत्येक मानव अपने भ्राता के अन्दर भगवान् को देख पायेगा तब उस उषा का उदय होगा जो उस अन्धकार, असत्य, अज्ञान, दोष और कष्ट को दूर भगा देगी, जो सारी 'प्रकृति' को अपने भार से दबाये हुए है। कारण: "दुःख भोगती और कराहती समस्त प्रकृति प्रतीक्षा कर रही है कि ईश्वर के पुत्र अपने-आपको कब प्रकट करेंगे।"

वास्तव में यही वह केन्द्रीय विचार है जिसमें अन्य सभी विचारों का सार आ जाता है। समस्त जीवन को आलोकित करने वाले सूर्य की भाँति इस विचार को हमारी स्मृति में सदा उपस्थित रहना चाहिये।

इसीलिए मैं आज इसकी याद दिला रही हूँ। कारण, यदि हम इस

विचार को एक अत्यन्त दुर्लभ रत्न, अत्यन्त बहुमूल्य सम्पदा के समान हृदय में सँजो कर अपने पथ पर चलें, यदि हम इसे अपने अन्दर ज्योति प्रदान करने और रूपान्तर करने का कार्य करने दें, तो हम जानेंगे कि यह प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी के मर्म में जीवन्त रूप से विद्यमान है और इसी के अन्दर हमें समस्त विश्व के आश्चर्यमय एकत्व की अनुभूति होगी।

और तब हमें बोध होगा कि हमारी तुच्छ तृप्तियाँ, हमारे मूर्खतापूर्ण लड़ाई-झगड़े, हमारे तुच्छ आवेग, हमारे अन्ध रोषावेश कितने व्यर्थ और बचकाने हैं! हम देखेंगे कि हमारी छोटी-छोटी दुर्बलताएँ पिघलती जा रही हैं, हमारे सीमित व्यक्तित्व की, हमारे निर्बोध अहंकार की अन्तिम मोर्चाबन्दियाँ भूमिसात् हो रही हैं। हमें अनुभव होगा कि हम सच्ची आध्यात्मिकता की महान् धारा में बहे जा रहे हैं, जो हमें हमारे सीमित ढाँचों से, हमारी संकीर्ण सीमाओं से मुक्त कर देगी।

व्यक्तिगत 'मैं' और विश्वगत 'मैं' दोनों एक हैं। प्रत्येक लोक में, प्रत्येक सत्ता में, प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक अणु में भगवान् विराजमान हैं और उन्हें अभिव्यक्त करना ही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है।

इसके लिए मनुष्य को अपने अन्दर की इस भागवत उपस्थिति के प्रति सचेतन होना होगा। कुछ को तो इस चेतना की प्राप्ति के लिए नौसिखिया शिक्षार्थी बनना पड़ता है, क्योंकि उनकी अहंपूर्ण सत्ता अत्यधिक सर्वग्रासी, अत्यधिक कठोर और बहुत ही रूढ़िवादी होती है, और उन्हें उसके साथ बड़ा लम्बा और कष्टकर संघर्ष करना पड़ता है। इसके विपरीत, कुछ दूसरे ऐसे होते हैं जो अधिक निर्वैयक्तिक, अधिक नमनीय तथा अधिक अध्यात्मभावापन्न होते हैं। वे सहज ही अपनी सत्ता के अक्षय दिव्य स्रोत के साथ सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि उन्हें भी प्रतिदिन और निरन्तर सामञ्जस्य और रूपान्तर की विधिवत् साधना करनी होती है ताकि उनके अन्दर की कोई भी चीज़ इस विशुद्ध प्रकाश की आभा को फिर से कभी आच्छन्न न कर दे।

पर इस गभीर चेतना तक पहुँचने से दृष्टिकोण कितना बदल जाता है! ज्ञान कितना बढ़ जाता है, सद्भावना कितनी विस्तृत हो जाती है!

इस विषय में एक ज्ञानी ने कहा है :

"मैं चाहता हूँ कि हममें से प्रत्येक इस अवस्था तक पहुँचे कि हम

अधम से अधम मनुष्य में भी अन्तरस्थ भगवान् को देख सकें और उसका तिरस्कार करने के बदले उससे कहें, 'उठ, हे ज्योतिर्मय पुरुष! तू, जो चिर पवित्र है, तू, जो न जन्म जानता है न मृत्यु। उठ, हे सर्वशक्तिमान्! और अपना स्वभाव प्रकट कर।'" आओ, हम इस सुन्दर वचन के अनुसार जीवन यापन करें और तब हम देखेंगे कि हमारे चारों ओर सब कुछ मानों किसी चमत्कार के द्वारा रूपान्तरित हो गया है।

यही भाव है सच्चे, सचेतन और स्पष्टदर्शी प्रेम का, उस प्रेम का जो बाह्य रूपों के परे देखना जानता है, शब्दों के बिना समझना जानता है, उस प्रेम का जो सब विघ्न-बाधाओं के बीच भी अन्तर की गहराइयों से निरन्तर सम्पर्क बनाये रहता है। भला क्या मूल्य है हमारे आवेगों और हमारी कामनाओं का, हमारी वेदनाओं और उग्रताओं का, हमारे दुःखों और संघर्षों का, हमारे सभी गहरे आन्तरिक उतार-चढ़ावों का जिन्हें हमारी अव्यवस्थित कल्पना अतिरञ्जित नाटकीय रूप दे देती है? क्या मूल्य है इनका उस महान्, उदात्त और दिव्य प्रेम के सामने जो हमारी सत्ता की अन्तरतम गहराइयों से हमारे ऊपर झुका रहता है, हमारी दुर्बलताएँ सहन करता है, हमारी भूलें सुधारता है, हमारे घाव भरता है, हमारी सम्पूर्ण सत्ता को अपनी नवजीवनदायिनी धाराओं से सराबोर कर देता है?

कारण, अन्तःस्थित भगवान् कभी दबाव नहीं डालते, न कोई दावा करते हैं और न भय दिखलाते हैं। वे तो निज का उत्सर्ग करते हैं, अपने-आपको दे देते हैं, वे सकल प्राणियों और सकल वस्तुओं के अन्दर छिपे हुए अपने-आपको भूले रहते हैं। वे कभी किसी को दोष नहीं देते, किसी के गुण-दोष का विवेचन नहीं करते, किसी को अभिशाप नहीं देते, किसी को दण्डित नहीं करते, बल्कि बिना दबाव डाले, बिना बुरा-भला कहे, निरन्तर सुधारने में, बिना धैर्य खोये उत्साह प्रदान करने में और प्रत्येक को उसकी ग्रहणशक्ति के अनुसार सभी सम्पदाओं से समृद्ध कर देने में लगे रहते हैं। भगवान् माँ हैं, उनका प्रेम जीवन देता है, पोषण करता है, देखभाल और रक्षा करता है, परामर्श और सान्त्वना देता है। माँ सब समझती हैं, अतः सबको सहारा देती हैं, किसी का दोष नहीं पकड़े रखतीं, सबको क्षमा करती हैं, सबके लिए आशा रखती हैं, सबको तैयार करती हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ४६-४९

आन्तरिक उपस्थिति के बारे में सचेतन होना

मैं सदा तुम्हारे साथ हूँ और साधना की सबसे महत्त्वपूर्ण बातों में से एक है आन्तरिक उपस्थिति के बारे में सचेतन होना। तुम 'क' से पूछ देखो, वह तुम्हें बतलायेगा कि 'उपस्थिति' श्रद्धा का विषय या मानसिक कल्पना नहीं है, वह एक तथ्य है और चेतना के लिए पूरी तरह ठोस और उसी तरह वास्तविक और मूर्त है जिस तरह अत्यधिक भौतिक तथ्य।

*

मधुर माँ, मैं प्रेम के उस स्रोत को कैसे पा सकता हूँ जो मुझे यह अनुभव कराये कि दिव्य उपस्थिति सदा और सर्वत्र है?

पहले तुम्हें भगवान् को पाना होगा, चाहे आभ्यन्तरीकरण और एकाग्रता द्वारा अपने अन्दर, या श्रीअरविन्द के और मेरे अन्दर प्रेम और आत्मोत्सर्ग द्वारा। एक बार तुम भगवान् को पा लो तो स्वभावतः तुम उन्हें सभी चीज़ों में और सब जगह देखोगे।

*

भगवान् के साथ एक होने के दो तरीक़े हैं। एक है, हृदय में एकाग्र होना और इतनी गहराई में जाना जहाँ उनकी उपस्थिति मिल जाये। दूसरा है, अपने-आपको उनकी भुजाओं में डाल देना, वहाँ, छोटा बच्चा जैसे अपनी माँ की गोद में चिपट जाता है उसी तरह **पूर्ण समर्पण** के साथ चिपट जाना। और मुझे लगता है कि इन दोनों में से दूसरा ज़्यादा आसान है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. १८५-८६

मेरी मधुर माँ, आज सारे दिन मैं बस उसी लाल गुलाब के बारे में सोचता रहा जिसका अर्थ है "भगवान् के लिए प्रेम में बदले हुए मानव आवेश"। मैं ठीक-ठीक जानना चाहता हूँ कि मानव आवेश हैं क्या?

"आवेश" से हमारा मतलब होता है वे सभी उग्र कामनाएँ जो मनुष्य पर

अधिकार कर लेती हैं और अन्त में उसके जीवन पर शासन करती हैं— शराबी में शराब के लिए आवेश होता है, व्यभिचारी में स्त्रियों के लिए, जुआरी में जुए के लिए, इत्यादि। अगर कोई मनुष्य किसी दूसरे के लिए तीव्र तथा उद्दाम रूप से प्रेम का अनुभव करता है तो उसे आवेश कहा जाता है, यहाँ हम उसी प्रेम की बात कर रहे हैं। यह वह आवेगपूर्ण प्रेम है जिसे मनुष्य एक-दूसरे के लिए अनुभव करते हैं और उसे भगवान् के लिए प्रेम में बदल जाना चाहिये।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. २०१-०२

तुम जितने अधिक उदास होओगे और रोना-धोना करोगे उतने ही अधिक मुझसे दूर होते जाओगे। भगवान् **उदास नहीं** हैं और भगवान् को पाने के लिए तुम्हें समस्त उदासी और समस्त भावुक दुर्बलता को अपने से बहुत दूर फेंक देना होगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. १९८

दुःख मत करो। एक ही लड़ाई को बार-बार जीतना होता है, विशेष रूप से तब जब लड़ाई विरोधी शक्तियों से लड़ी जा रही हो। इसलिए तुम्हें धैर्य से लैस होना चाहिये और परम विजय पर विश्वास रखना चाहिये।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. २१३

कारण कुछ भी क्यों न हो, जैसे ही मेरी चेतना आपको खो बैठती है, मैं हर्षहीन और ऊर्जाहीन हो जाता हूँ।

मैं किसी क्षण भी तुम्हें नहीं भूलती। क्या तुम मेरे और अपने बीच बहुत सारे अन्य प्रभावों को नहीं आने देते?

*

माँ, आपकी उपस्थिति को सदा अपने पास अनुभव करना इतना कठिन क्यों है? अपने हृदय की गहराई में मैं भली-भाँति जानता हूँ कि आपके बिना मेरे लिए जीवन का कोई अर्थ नहीं है। लेकिन मेरा

मन ज़रा-सा अवसर पाते ही इधर-उधर चल पड़ता है।

ठीक इसी कारण तुम 'उपस्थिति' का अनुभव खो बैठते हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. १८४

अपने अन्दर रिक्तता पैदा करने की तुम्हारी चाह उचित है; क्योंकि तुम शीघ्र ही देख लोगे कि इस रिक्तता की गहराई में भगवान् हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. १९७

ध्यान के निश्चित घण्टे रखने की अपेक्षा निरन्तर एकाग्रचित्त और अन्तर्मुखी वृत्ति रखना ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है।

*

यौगिक जीवन इस पर निर्भर नहीं होता कि तुम क्या करते हो, बल्कि इस पर कि तुम उसे कैसे करते हो। मेरा आशय यह है कि कर्म की इतनी गिनती नहीं होती जितनी कर्म के पीछे की मनोवृत्ति की, उस भाव की जिससे तुम कर्म करते हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. २०५-०६

मेरी प्यारी माँ, मैं यह नहीं कहता कि मैं तुमसे प्यार करता हूँ और तुम्हारा हूँ। मुझे यह बात अपनी क्रियाओं में प्रमाणित करनी चाहिये। उसके बिना ये व्यर्थ के शब्द होंगे जिनके पीछे मनुष्य छिपता और सुरक्षा ढूँढ़ता है। लेकिन फिर भी, मैं सदा तुम्हारा बालक हूँ।

यह अच्छा है। वास्तव में तुम हमेशा मेरे बच्चे हो और मैं चाहती हूँ कि तुम और भी अधिक अच्छे बच्चे बन जाओ जो पूरी सच्चाई और निष्कपटता के साथ मुझसे कह सकेगा: "मैं तुमसे प्रेम करता हूँ और शाश्वत काल के लिए तुम्हारा हूँ।"

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. १८३-८४

वे ही माँ के सबसे नज़दीकी बच्चे हैं जो उनकी ओर खुले हुए हैं, उनकी आन्तर सत्ता में उनके निकट हैं, उनकी इच्छा के साथ 'एक' हो गये हैं—वे नहीं जो शरीर से उनके सबसे अधिक निकट हैं।

SABCL २५, पृ. १७०

चैत्य तथा आध्यात्मिक मातृत्व

तुम माँ के बच्चे हो और अपने बच्चों के लिए माँ का प्रेम असीम है तथा वे उनके स्वभाव के दोषों को धैर्य के साथ सहन करती हैं। माँ का सच्चा बालक होने की चेष्टा करो; वे तुम्हारे अन्दर ही हैं, पर तुम्हारा बाहरी मन छोटी-छोटी निरर्थक बातों में लगा रहता है और बहुधा उनके विषय में बहुत अधिक हो-हल्ला मचाया करता है। तुम्हें केवल स्वप्न में ही माताजी को नहीं देखना चाहिये बल्कि सारे समय उन्हें अपने साथ और अपने अन्दर देखना और अनुभव करना सीखना चाहिये। तब तुम अपने को संयत करना और परिवर्तित करना अधिक आसान पाओगे—क्योंकि वहाँ मौजूद होने के कारण माँ ही तुम्हारे लिए यह कर देने में समर्थ होंगी।
SABCL २५, पृ. १७६

जो 'क्ष' के भौतिक शरीर को जन्म देने में निमित्त थी वह, निस्सन्देह, अपने जीवन-काल में उसकी भौतिक जननी थी। लेकिन यहाँ श्रीमाँ और 'क्ष' के बीच (और श्रीमाँ तथा उन्हें स्वीकार करने वाले सभी साधकों के बीच) जो सम्बन्ध है वह चैत्य तथा आध्यात्मिक मातृत्व का है। भौतिक माँ का अपने बच्चे के साथ जो सम्बन्ध होता है उसकी अपेक्षा यह कहीं अधिक महान् सम्बन्ध है; यह वह सब कुछ देता है जो मानव मातृत्व दे सकता है, लेकिन बहुत उच्चतर रूप में और इस सम्बन्ध के अन्दर अनन्तगुना अधिक कुछ और भी होता है। क्योंकि यह अधिक महान् और पूर्ण होता है, अतः, यह पूरी तरह से भौतिक सम्बन्ध का स्थान लेकर आन्तरिक और बाहरी दोनों प्रकार के जीवन में कार्य करता है। यहाँ ऐसा कुछ नहीं है जो ऐसे किसी को भ्रम में डाल सके जिसके अन्दर सामान्य समझ और ऋजु ज्ञान हो। भौतिक तथ्य महानतर चैत्य तथा आध्यात्मिक सत्य के पथ के आड़े जौ-भर भी नहीं आ सकता या उसे सच्चा होने से रोक ही सकता है। 'क्ष' एकदम सही है जब वह कहता है कि ये ही उसकी सच्ची माँ हैं, क्योंकि इन्होंने ही उसे आन्तरिक जीवन में एक नया जन्म दिया है और उसे भागवत अस्तित्व के लिए तैयार कर रही हैं।
CWSA खण्ड ३२, पृ. १०८ **श्रीअरविन्द**

प्रेमरूपेण संस्थिता

सच्चे बच्चे बन जाओ

साधक : मैं अपने कल के व्यवहार के लिए दु:खी हूँ। क्या मैं उसके लिए क्षमायाचना कर सकता हूँ?... काश! मैं आपका सच्चा सेवक बन सकूँ।

मैं पहले ही तुम्हें **सच्चा सेवक** मानती हूँ, लेकिन मैं चाहती हूँ कि तुम **सच्चे बालक** भी बन जाओ ताकि तुम उसका पूरा आनन्द ले सको।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. ३०८

*

साधक : आख़िर मेरा सारा जीवन आपको समर्पित है। मैं इसकी चिन्ता किये बिना कि मुझे क्या होता है, बिलकुल अचञ्चल और स्थिर रहूँगा।

यह बहुत अच्छी बात है, अगर तुम इसमें यह विचार और जोड़ दो कि तुम अपने-आपको जितना जानते हो और स्वयं से जितना प्रेम करते हो उससे कहीं ज़्यादा अच्छी तरह मैं तुम्हें जानती और तुमसे प्रेम करती हूँ और यह भी कि मैं तुम्हारी अपेक्षा ज़्यादा अच्छी तरह जानती हूँ कि तुम्हारे लिए क्या अच्छा है—तो बात एकदम सही हो जायेगी।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. १९४-९५

मातृरूपेण संस्थिता

एक साधक को दिलासा

मेरी चेतना पर परदा पड़ गया है । क्या मैं आपका बालक हूँ?

निश्चित रूप से तुम्हारी चैत्य सत्ता मेरा बालक है, और वह इस चीज़ को बहुत अच्छी तरह जानती है।

और कितने दिन मुझे इस अँधेरी और दर्दनाक खाई में तड़पना होगा? मैं इस बात से बहुत उदास हूँ कि मैं आपका बालक नहीं बन सकता।

मैं तुम्हारा मतलब ही नहीं समझ पा रही हूँ; मैंने तुमसे यह कभी नहीं कहा कि तुम मेरे बालक नहीं बन सकते। इसके विपरीत, मैंने तुमसे यह कहा कि अपनी चैत्य सत्ता में तुम मेरे बालक हो और यह कि तुम इसके बारे में पूरी तरह से तभी सचेतन होओगे जब तुम अपनी चैत्य सत्ता के बारे में सचेतन हो जाओ।

मेरे कहने का मतलब यह था कि मैं इसलिए उदास हूँ क्योंकि मैं आपका बालक और आपका वफ़ादार सेवक नहीं बन पा रहा हूँ, जब कि इसीलिए मैं यहाँ हूँ।

मैंने ठीक यही समझा था—और मैं फिर से यही दोहराती हूँ कि (तुम्हारी अपनी इच्छा के सिवाय) कोई भी चीज़ तुम्हें मेरा बालक होने और मेरा वफ़ादार सेवक होने से रोक नहीं सकती।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. १९५

बालवत् पथ

बालक के जैसा बनने से आपका क्या मतलब है?

बालक में चैत्य जीवन मानसिक जीवन से ढका नहीं होता। क्योंकि बालक पूरी तरह से रूपायित नहीं होता इसलिए उसमें विकसित होने की बहुत अधिक क्षमता होती है और वह पर्याप्त नमनीयता के साथ प्रगति कर सकता है।

मैं उस बालवत् पथ के बारे में जानना चाहूँगा जिसे इस योग में अपनाया जा सकता है।

बालवत् पथ है सन्देहरहित विश्वास, पूर्ण निर्भरता और अबाध समर्पण का।

आपके ख़याल से मेरे लिए बालवत् पथ को अपनाना अच्छा होगा क्या?

बालवत् पथ हमेशा अधिक अच्छा होता है—लेकिन इतना आसान नहीं होता, **क्योंकि उसे सहज रूप से और पूरी निष्कपटता के साथ** अपनाना चाहिये।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. २०३-०४

बालवत् विश्वास

सबसे आवश्यक शर्त है बच्चे-जैसा विश्वास रखना, बच्चे का-सा निश्छल विश्वास कि चीज़ होकर रहेगी, बच्चा अपने-आपसे इसके बारे में पूछता तक नहीं; जब उसे किसी चीज़ की ज़रूरत होती है तो उसे विश्वास होता है कि वह अवश्य आयेगी। तो यह है, इस प्रकार का विश्वास—निश्चय ही यह सबसे ज़रूरी शर्त है।

अभीप्सा करना अनिवार्य है। लेकिन कुछ लोग बड़े आन्तरिक संघर्ष के साथ अभीप्सा करते हैं, श्रद्धा और श्रद्धा के अभाव में, विश्वास और अविश्वास में, विजय के बारे में निश्चित आशावाद और अपने-आपसे "संकट कब आयेगा" पूछते हुए निराशावाद के बीच संघर्ष के साथ।...

हाँ तो, जब तुम दिव्य 'शक्ति' के लिए अभीप्सा करो, जब तुम भगवान् से सहायता माँगो और इस अटल विश्वास के साथ माँगो कि वह आयेगी, कि यह असम्भव है कि वह न आये, तो वह निश्चय ही आयेगी। वह इस प्रकार... हाँ, यह विश्वास सचमुच आन्तरिक उद्घाटन है। कुछ लोग हमेशा इस स्थिति में रहते हैं। जब कोई चीज़ ग्रहण करनी होती है, तो वे हमेशा ग्रहण करने के लिए मौजूद रहते हैं। कुछ और लोग ऐसे होते हैं कि जब कुछ पाना हो, कोई शक्ति उतर रही हो, तो वे हमेशा अनुपस्थित रहते हैं; उस समय वे हमेशा बन्द रहते हैं; जब कि वे, जिनमें बच्चों का-सा विश्वास होता है, हमेशा ठीक समय पर मौजूद होते हैं।...

अगर सहज, निष्कपट, बिना ननुनच करने वाला विश्वास है, तो वह सबसे अच्छा कार्य करता है, और परिणाम अद्भुत आते हैं। तुम अपने मन की दुविधाओं और सन्देहों के कारण सब कुछ बिगाड़ देते हो। कठिनाई के समय इस प्रकार की धारणाओं से: "ओह, यह तो असम्भव है! मैं यह कभी न कर पाऊँगा। मैं जिस अवस्था में हूँ उसे बिलकुल नहीं पसन्द करता, लेकिन अगर यह बिगड़ जाये, अगर मैं ज़्यादा-ज़्यादा नीचे खिसकता जाऊँ, अगर, अगर, अगर, अगर..." और इस प्रकार तुम अपने और जिस शक्ति को ग्रहण करना चाहते हो उसके बीच दीवार खड़ी कर लेते हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ४५४-५६

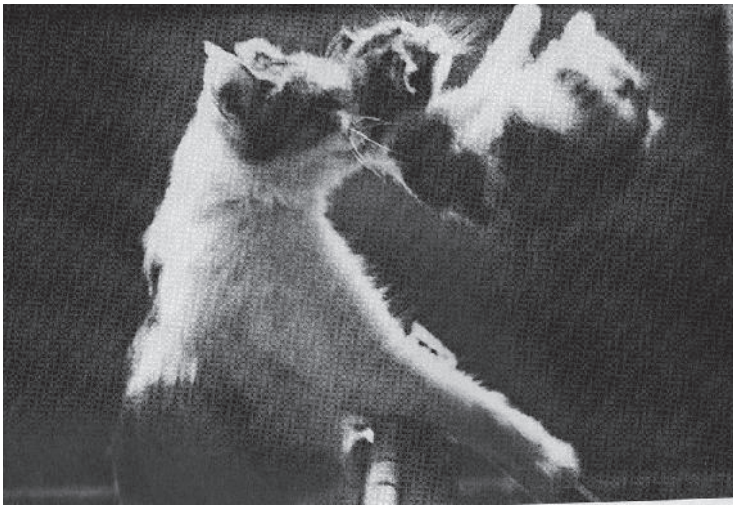

श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि शिष्य दो मनोभावों में से एक को चुन सकता है : बिल्ली के बच्चे का निष्क्रिय विश्वास जो अपने को उठा ले जाने के लिए माँ के ऊपर छोड़ देता है (यह समर्पण का पथ है, अत्यन्त सुनिश्चित) और बन्दर के बच्चे का सक्रिय मनोभाव जो अपनी माँ के साथ चिपक जाता है (यह व्यक्तिगत प्रयास का पथ है)।

*

अगर व्यक्ति भगवान् को चाहे तो भगवान् स्वयं उसके हृदय को शुद्ध करने, उसकी साधना को आगे बढ़ाने और उसे आवश्यक अनुभूतियाँ प्रदान करने का काम अपने हाथ में ले लेंगे। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अगर व्यक्ति के अन्दर श्रद्धा-विश्वास हो और हो समर्पण करने की इच्छा तो ऐसा हो सकता और होता है। क्योंकि इस तरह भगवान् द्वारा ले लिये जाने पर तुम्हें, अपने ही प्रयासों पर विश्वास करने की जगह, स्वयं को पूरी तरह प्रभु के हाथों सौंप देना होगा; इसका अर्थ है कि उन प्रभु पर श्रद्धा-विश्वास दृढ़ता से जमाये रखना और क्रमशः आत्म-समर्पण करते रहना होगा। वस्तुतः यही साधना का मूलभूत तथ्य है और स्वयं मैंने भी इसी का अनुसरण किया है और मेरे योग की धुरी यही है। मेरे ख्याल से, रामकृष्ण बिलौटे के रूपक में इसी प्रक्रिया की बात कर रहे हैं। लेकिन सभी तत्काल इसका अनुसरण नहीं कर सकते; इस तक पहूँचने में उनको समय लगता है—जब मन और प्राण शान्त हो जाते हैं तभी इसे सबसे अधिक आसानी से किया जा सकता है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ७०

बिल्ली के बच्चे का मनोभाव तथा व्यक्तिगत प्रयास

... यह कहना बड़ा आसान है कि "बिल्ली के बच्चे का मनोभाव ग्रहण करो", पर इसे करना उतना आसान नहीं है। तुम्हें यह विश्वास नहीं करना चाहिये कि बिल्ली के बच्चे का मनोभाव ग्रहण करने का तात्पर्य है कि समस्त व्यक्तिगत प्रयास को छोड़ देना। मनुष्य बिल्ली के बच्चे नहीं हैं! तुम्हारे अन्दर ऐसे अनगिनत तत्त्व हैं जो अपने-आप पर ही विश्वास करने के अभ्यस्त हैं, जो अपना निजी काम स्वयं करना चाहते हैं, और इन सब तत्त्वों को संयमित करना, सब प्रकार की परिस्थितियों के हाथ में अपने को छोड़ देने से बहुत अधिक कठिन है। सबसे पहले, मन का वह अद्‌भुत कार्य सर्वदा बना रहता है जो देखना, आलोचना करना, विश्लेषण करना, सन्देह करना, समस्या सुलझाने की चेष्टा करना बहुत अधिक पसन्द करता है, कहता है, "क्या यह बात ऐसे अच्छी है?" "क्या उस तरह यह कुछ और अच्छी नहीं हो सकती?" आदि-आदि। अतः यह चीज़ चलती रहती है, चलती रहती है और तब कहाँ होता है वह बिल्ली का बच्चा?... क्योंकि बिल्ली का बच्चा तो सोचता ही नहीं! वह इस सबसे मुक्त है और इसी कारण उसके लिए ऐसा करना बहुत आसान है!

चाहे तुम जिस किसी भी पथ का अनुसरण क्यों न करो, व्यक्तिगत प्रयास तब तक सदा ही आवश्यक होता है जब तक कि तादात्म्य का क्षण नहीं आ जाता। उस समय सभी प्रयास फटे-पुराने लबादे की तरह तुमसे झड़ जाते हैं।... तुम्हें सचेत, नीरव होना चाहिये, तुम्हें आन्तरिक प्रेरणा की प्रतीक्षा करनी चाहिये, बाहरी प्रतिक्रियाओं के वश कुछ नहीं करना चाहिये, तुम्हें निरन्तर, नियमित रूप से बस उसी ज्योति से परिचालित होना चाहिये जो ऊपर से आती है, तुम्हें बस उसी ज्योति की प्रेरणा के अधीन कार्य करना चाहिये, अन्य किसी चीज़ के अधीन नहीं। कभी यह नहीं सोचना चाहिये, यह प्रश्न नहीं उठाना चाहिये, यह नहीं पूछना चाहिये, "मुझे यह करना चाहिये या वह", बल्कि जानना, देखना, सुनना चाहिये। एक ऐसी आन्तरिक निश्चयता के साथ कार्य करना चाहिये जो प्रश्न नहीं करती, शंका-सन्देह नहीं करती, क्योंकि निर्णय तुम्हारे पास से नहीं आता, वह ऊपर से आता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ११०-११

पृथ्वी पर भागवत सत्य की प्रतिष्ठा के लिए

(सामने के पृष्ठ के चित्र के बारे में)

माँ, आप इस चित्र में किसे और क्यों प्रणाम कर रही हैं?

(मोना सरकार की स्मृति से अंकित श्रीमाँ का उत्तर :)

क्या तुम यह नहीं देख पा रहे कि मैं सत्य को नमस्कार कर रही हूँ? यह महत्त्वपूर्ण मुद्रा है। यह आराधना और विनय की वृत्ति है। मैं धीरज के साथ उस दिन की राह देख रही हूँ जब सत्य ही हमारा एकमात्र पथ-प्रदर्शक होगा और यह वृत्ति बहुत आवश्यक है। अगर धरती चाहती है कि दिव्य सत्य यहाँ पर पूरी तरह प्रतिष्ठित हो तो उसे यह वृत्ति अपनानी होगी। यही एकमात्र चीज़ है जो पृथ्वी की रक्षा कर सकती है।

इस मनोभाव में रहना और ऊपर की ओर अभीप्सा करना। पृथ्वी को इस मनोभाव के साथ सत्य के आगे नमन करना सीखना चाहिये। यह आराधना भी है और प्रणति भी, यही वह चीज़ है जो उसे सीखनी चाहिये। इसका अर्थ और भी बहुत कुछ है। यह बहुत गहरी और उच्च वस्तु है।

(Sweet Mother-Harmonies of Light, भाग-१, पृ. १५) **श्रीमाँ**

आराधना और प्रणाम

हमारी वर्तमान अपूर्ण प्रकृति के पीछे

हमारे कर्मों का स्वामी जब हमारी प्रकृति का रूपान्तर कर रहा होता है तब भी वह इसका मान करता है; वह सदा हमारी प्रकृति के द्वारा ही अपनी क्रिया करता है, मन की मौज के अनुसार नहीं। हमारी इस अपूर्ण प्रकृति में हमारी पूर्णता की सामग्री भी निहित है, पर वह अविकसित, विकृत तथा स्थानभ्रष्ट है और अव्यवस्था या त्रुटिपूर्ण दुर्व्यवस्था के साथ एक ही जगह पटकी हुई है। इस सब सामग्री को धैर्यपूर्वक पूर्ण बनाना है, शुद्ध, पुनर्व्यवस्थित, नव-घटित तथा रूपान्तरित करना है; इसे न तो छिन्न-भिन्न तथा नष्ट-भ्रष्ट या क्षत-विक्षत करना है और न ही बल-प्रयोग या इनकार के द्वारा मिटा ही देना है। यह संसार तथा इसमें रहने वाले हम सब उसी की रचना एवं अभिव्यक्ति हैं, और वह इसके साथ तथा हमारे साथ ऐसे ढंग से बर्ताव करता है जिसे हमारा क्षुद्र एवं अज्ञानी मन तब तक नहीं समझ सकता जब तक वह शान्त होकर दिव्य ज्ञान के प्रति उन्मुक्त न हो जाये। हमारी भूलों में भी एक ऐसे सत्य का तत्त्व रहता है जो हमारी टटोलती हुई बुद्धि के प्रति अपना अर्थ प्रकाशित करने का प्रयत्न करता है। मानव-बुद्धि भूल को अपने अन्दर से निकालती है, पर साथ-ही-साथ सत्य को भी निकाल फेंकती है और उसके स्थान पर एक और अर्ध-सत्य, अर्ध-भ्रान्ति को ला बिठाती है। परन्तु भागवत प्रज्ञा हमारी भूलों को तब तक बनी रहने देती है जब तक हम प्रत्येक मिथ्या आवरण के नीचे गुप्त और सुरक्षित रखे हुए सत्य को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो जाते। हमारे पाप उस अन्वेषक शक्ति के भ्रान्त पग होते हैं जिसका लक्ष्य पाप नहीं, वरन् पूर्णत्व होता है, अथवा एक ऐसा कर्म होता है जिसे हम दिव्य पुण्य कह सकते हैं। बहुधा वे एक ऐसे गुण को ढकने वाले परदे होते हैं जिसे रूपान्तरित करके इस भद्दे आवरण से मुक्त करना होता है; अन्यथा, वस्तुओं के पूर्ण विधान में, उन्हें पैदा होने या रहने ही न दिया जाता। हमारे कर्मों का स्वामी न तो प्रमादी है न उदासीन साक्षी और न ही अनावश्यक बुराइयों की रंगरेलियों से मन बहलाने वाला, वह हमारी बुद्धि से अधिक ज्ञानी है, वह हमारे पुण्य से भी अधिक ज्ञानी है।

CWSA खण्ड २३, पृ. २४५-४६ **श्रीअरविन्द**

रूपान्तर के योग के लिए कार्य की आवश्यकता

... मन को निश्चल करने तथा आध्यात्मिक अनुभूति पाने के लिए पहले, प्रकृति को शुद्ध करना तथा उसे तैयार करना आवश्यक है। कभी-कभी इसमें अनेक वर्ष लग जाते हैं। इसके लिए, उचित मनोवृत्ति के साथ कार्य करना सबसे आसान तरीक़ा है—यानी, निष्काम-भाव से या निरहंकार-भाव से कार्य किया जाये, कामना, माँग या अहंकार की सभी गतिविधियों को त्याग दिया जाये, सभी कार्य भगवती माता को अर्पण के रूप में किये जायें तथा उनके नाम-स्मरण और उनसे इस प्रार्थना के साथ किये जायें कि वे अपनी शक्ति को अभिव्यक्त करें और कार्य को ग्रहण करें, जिससे वहाँ भी —न केवल आन्तरिक नीरवता में—तुम उनकी उपस्थिति तथा क्रियाशीलता को अनुभव कर सको। CWSA खण्ड २९, पृ. २२६

बहरहाल, मैं कह सकता हूँ कि प्राचीन आध्यात्मिक भारत में व्यापार को जितनी बुरी या दूषित वस्तु माना जाता था उससे ज़रा भी अधिक बुरी या दूषित वस्तु मैं नहीं समझता। यदि मैं समझता तो मुझे 'अ' से अथवा बम्बई में पूर्व अफ़्रीका के साथ व्यापार करने वाले अपने शिष्यों से धन न मिल पाता; और न तब मैं उन्हें अपना व्यापार करते रहने के लिए प्रोत्साहित ही कर पाता, बल्कि तब मुझे उनसे यह कहना होता कि इसे छोड़ो और केवल अपनी आध्यात्मिक उन्नति की ओर ध्यान दो। हम कैसे 'अ' की आध्यात्मिक ज्योति की खोज और उसकी मिल में सामञ्जस्य बैठाएँ? क्या मुझे उससे यह नहीं कह देना चाहिये कि अपनी मिल को स्वयं उसी के भरोसे और शैतान के हाथ में छोड़ दो और किसी आश्रम में जाकर ध्यान करो? यदि स्वयं मुझे भी व्यापार करने का आदेश मिला होता, जैसा कि मुझे राजनीति करने का आदेश मिला था, तो ज़रा भी आध्यात्मिक या नैतिक मनस्ताप के बिना मैंने वही किया होता। सब कुछ निर्भर करता है उस मनोभाव पर जिसके साथ कोई कार्य किया जाता है, उन सिद्धान्तों पर जिन पर वह कार्य आधारित होता है और उस उपयोग पर जिसकी ओर वह कार्य प्रयुक्त होता है।

CWSA खण्ड २९, पृ. २४८-४९ **श्रीअरविन्द**

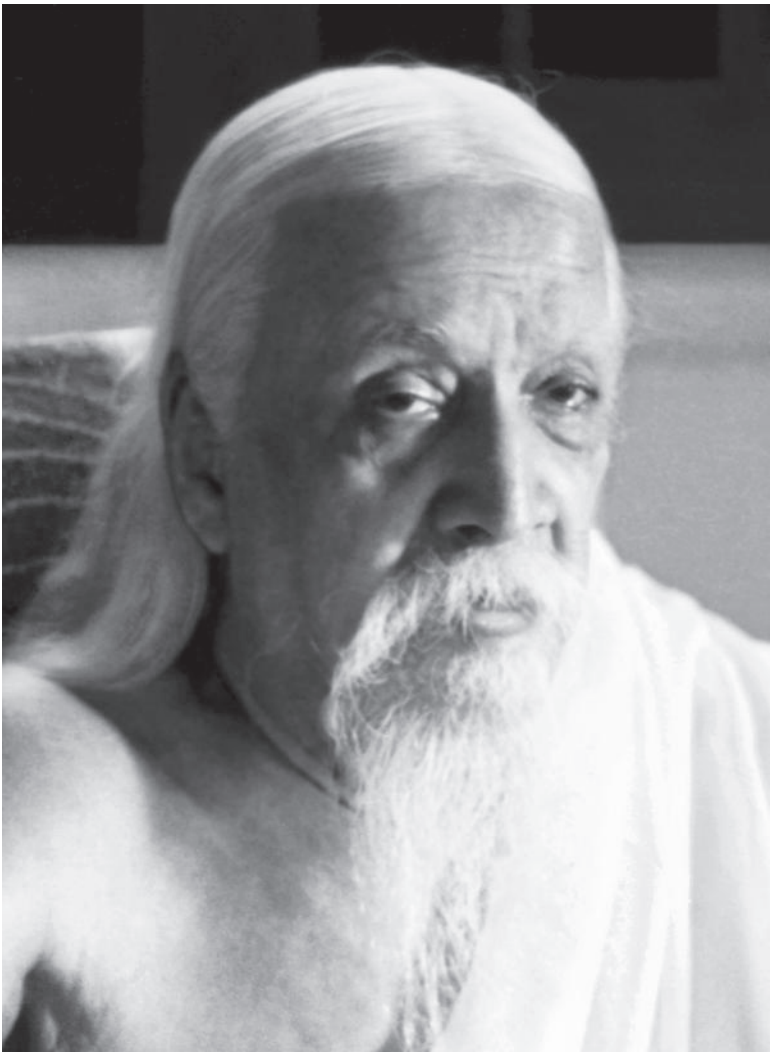

विराजमान हो हे प्रभो!

'भगवान्', 'प्रकाश', 'स्वाधीनता', 'अमरता'

मनुष्य के प्रबुद्ध विचारों में उसकी सबसे पहली तल्लीनता, जो उसकी चरम और अनिवार्य तल्लीनता भी मालूम होती है, क्योंकि वह सन्देहवाद की लम्बी-से-लम्बी अवधियों के बाद, हर निष्कासन के बाद भी बनी रहती है, वही, जहाँ तक उसके विचार की उड़ान है, उसकी उच्चतम तल्लीनता भी मालूम होती है। वह अपने-आपको परम देव के पूर्वाभास में, पूर्णता के लिए आवेश में, शुद्ध सत्य और अमिश्रित आनन्द की खोज में, गुप्त अमरता के भाव में प्रकट करती है। मानव ज्ञान की प्राचीन उषाएँ इस सतत अभीप्सा के बारे में अपनी साक्षी छोड़ गयी हैं। आज हम ऐसी मानवजाति को देखते हैं जो प्रकृति के बाह्य रूप के विजयी विश्लेषण से अघा तो गयी है पर सन्तुष्ट नहीं है। वह अपनी आदिम ललकों की ओर लौटने की तैयारी कर रही है। प्रज्ञा का आदि सूत्र ही अन्तिम सूत्र होने की प्रतिज्ञा करता है—'भगवान्', 'प्रकाश', 'स्वाधीनता', 'अमरता'।...

कहते हैं पशु एक जीवित प्रयोगशाला है जिसमें प्रकृति ने मनुष्य को तैयार किया है। हो सकता है कि स्वयं मनुष्य एक ऐसी जीती-जागती विचारशील प्रयोगशाला हो जिसमें और जिसके सचेतन सहयोग से वह अतिमानव या देव को तैयार करना चाहती है। हम यह क्यों न कहें कि वह भगवान् को अभिव्यक्त करना चाहती है? क्योंकि अगर क्रमविकास प्रकृति के अन्दर सोयी हुई या अन्तर्लीन होकर काम करती हुई चीज़ की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति है तो यह भी प्रकट रूप में उस चीज़ की चरितार्थता है जो वह स्वयं गुप्त रूप से है। अतः, हम उसे क्रमविकास के अमुक स्तर पर रुक जाने का हुकुम नहीं दे सकते और न हमें यह अधिकार है कि उसके परे जाने के प्रयास या प्रकट किये हुए इरादे को धार्मिक लोगों के साथ मिल कर उसे विकृत या पाखण्डी कह सकें या फिर तर्क-बुद्धिवालों की तरह उसे बीमारी या मतिभ्रम ठहरा दें। अगर यह सच है कि 'आत्मा' भौतिक में अन्तर्लीन है और दृश्य 'प्रकृति' गुप्त भगवान् है तो देवत्व की अपने में चरितार्थता और भगवान् की स्वयं अपने अन्दर और बाहर अभिव्यक्ति धरती पर स्थित मनुष्य के लिए उच्चतम और यथासम्भव अधिक-से-अधिक न्यायसंगत लक्ष्य है।

CWSA खण्ड २१, पृ. ३-४, ६

उतरो भू पर ललाम!

जीवन का दिव्यीकरण

पुरानी आध्यात्मिकता का मतलब था, जीवन से भाग कर दिव्य 'सद्वस्तु' में चले जाना और संसार को वहीं और उसी रूप में छोड़ देना जहाँ और जिस रूप में यह था; जब कि, इसके विपरीत, हमारी नयी सृष्टि का स्वरूप है, जीवन को दिव्य बनाना, भौतिक जगत् को दिव्य जगत् में रूपान्तरित करना। **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड ९, पृ. १६५

तुम इस समय यहाँ, यानी, धरती पर इसलिए हो क्योंकि एक समय तुमने यह चुनाव किया था—अब तुम्हें उसकी याद नहीं है, पर मैं जानती हूँ—इसी कारण तुम यहाँ हो। हाँ, तुम्हें इस कार्य की ऊँचाई तक उठना चाहिये, तुम्हें प्रयास करना चाहिये, तुम्हें सभी कमज़ोरियों और सीमाओं को जीतना चाहिये; और सबसे बढ़ कर तुम्हें अपने अहंकार से कहना चाहिये : "तुम्हारा समय बीत गया।" हम एक ऐसी जाति चाहते हैं जिसमें अहंकार न हो, जिसमें अहंकार की जगह 'भागवत चेतना' हो। हम यही चाहते हैं : एक 'भागवत चेतना' जो जाति को विकसित होने और अतिमानसिक सत्ता को जन्म लेने दे। **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड ११, पृ. ३२७-२८

जब पहले मानवजाति की रचना हुई तो अहंकार एक करने वाला उपकरण था। सत्ता की विभिन्न अवस्थाएँ अहं के चारों ओर वर्गीकृत थीं; लेकिन अब जब अतिमानवता के जन्म की तैयारी हो रही है, अहंकार को लुप्त होना और चैत्य सत्ता को स्थान देना होगा जो धीरे-धीरे भागवत हस्तक्षेप द्वारा मानव सत्ता में भगवान् को अभिव्यक्त करने के लिए निर्मित हो चुकी है। चैत्य के प्रभाव तले ही भगवान् मनुष्य में अभिव्यक्त होते हैं और इस तरह अतिमानवता के आगमन की तैयारी करते हैं। चैत्य अमर है और चैत्य द्वारा धरती पर अमरता को प्रकट किया जा सकता है। तो अब महत्त्वपूर्ण कार्य है, अपने चैत्य को पाना, उसके साथ एक होना और उसे अहंकार का स्थान लेने देना। अहंकार या तो परिवर्तित होने या लुप्त हो जाने के लिए बाधित होगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ४८६

भगवान् की ओर आरोहण : तीन तरीक़े

इतिहास की घटनाओं का **मूल्यांकन करने** के लिए कुछ दूरी की ज़रूरत है। इसी तरह, अगर तुम भौतिक सम्भावनाओं से काफ़ी ऊपर उठ सको तो तुम समस्त पार्थिव जीवन को समग्र रूप में देख सकोगे। उस क्षण से यह अनुभव करना आसान है कि मानवजाति के सभी प्रयास एक ही लक्ष्य की ओर अभिमुख हैं।

यह सच है कि व्यक्तिगत रूप से हो या सामूहिक रूप से, मनुष्य वहाँ तक पहुँचने के लिए बहुत अलग-अलग रास्ते अपनाते हैं; उनमें से कुछ इतने टेढ़े-मेढ़े होते हैं कि पहली दृष्टि में लगता है कि वे लक्ष्य की ओर जाने की जगह उनसे परे ले जा रहे हैं; लेकिन सभी जाने-अजाने, तेज़ी से या धीरे-धीरे उसी ओर जा रहे हैं।

तो यह लक्ष्य है क्या?

वह मनुष्य के जीवन के उद्देश्य और विश्व में उसके 'मिशन' के साथ एक है।

लक्ष्य : "उसे चाहे जो नाम दे लो, विज्ञजनों के लिए वह सभी नामों वाला है।"

चीनियों का ताओ—हिन्दुओं का ब्रह्म—बौद्धों का धर्म—हर्मीज़ का शुभ—प्राचीन यहूदियों के अनुसार वह जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता—ईसाइयों का परमेश्वर—मुसलमानों का अल्लाह—जड़वादियों का न्याय, सत्य।

मानव जीवन का उद्देश्य है 'उसके' बारे में सचेतन होना।
उसका 'मिशन' है 'उसे' अभिव्यक्त करना।

सभी धर्म, सभी सन्तों की शिक्षा इस लक्ष्य तक पहुँचने के उपायों से भिन्न कुछ नहीं है।

उन्हें तीन मुख्य श्रेणियों में बाँटा जा सकता है।

पहला तरीक़ा—बौद्धिक : 'सत्य' के लिए प्रेम, 'निरपेक्ष' की खोज।

विवेक, अध्ययन, मनन-चिन्तन, विश्लेषण, विचार के संयम और एकाग्रता के द्वारा तुम व्यक्तित्व के भ्रम से छुटकारा पा जाते हो। वह है एक ही द्रव्य में—जो अपने-आपमें एक आभास से बढ़ कर कुछ नहीं है,

चक्कर लगाते हुए परमाणु : 'ईथर' या आकाश का घनरूप।

जब हम **मैं** कहते हैं तो हम किसकी बात करते हैं? शरीर की? संवेदनों की? भावनाओं की? विचारों की? इनमें से किसी में स्थिरता नहीं है। सातत्य का आभास एक कठोर नियति से आता है जो सत्ता के हर एक क्षेत्र पर लागू होता है। और इस नियति में जितने आन्तरिक कारण होते हैं उतने ही बाह्य कारण भी घुस आते हैं। तब फिर 'स्व' कहाँ है? यानी, कोई स्थायी, निरन्तर, हमेशा एकरस तत्त्व कहाँ है? उसे पाने के लिए, इस निरपेक्ष को पाने के लिए हमें गहराई से गहराई की ओर, सापेक्षता से सापेक्षता की ओर बढ़ना चाहिये। क्योंकि जो कुछ रूप धारण किये हुए है वह सापेक्ष है जब तक कि हम 'वहाँ' नहीं पहुँच जाते जो हमारी तर्क-बुद्धि के लिए 'अचिन्त्य', हमारी वाणी के लिए 'अकथ्य' है, पर तादात्म्य के द्वारा ज्ञेय है—क्योंकि हम 'उसे' अपने अन्दर लिये रहते हैं, वह **हमारी** सत्ता का केन्द्र और उसका जीवन है।

दूसरा तरीक़ा—भगवान् का प्रेम। यह उन लोगों का तरीक़ा है जिनमें विकसित धार्मिक भाव है।

सभी चीज़ों के भागवत 'सारतत्त्व' के लिए अभीप्सा, जिसे हमने सम्पूर्ण प्रदीप्ति के क्षणों में देखा है।

और तब इस भागवत 'सारतत्त्व' के प्रति आत्म-निवेदन, इस 'शाश्वत विधान' के प्रति हर क्षण, अपनी हर क्रिया में समग्र आत्म-दान। सम्पूर्ण समर्पण : अब व्यक्ति केवल एक विनीत यन्त्र, 'परम प्रभु' के सामने एक आज्ञाकारी सेवक रह जाता है। 'प्रेम' इतना पूर्ण हो जाता है कि वह उस सबसे अनासक्ति पैदा कर देता है जो 'निरपेक्ष ब्रह्म' नहीं है, 'उन' पर पूर्ण एकाग्र नहीं है।

"और इसके अतिरिक्त, इससे भी ऊपर उठना असम्भव नहीं है क्योंकि स्वयं प्रेम भी प्रेमी और प्रेमपात्र के बीच अवगुण्ठन बन जाता है।"

तादात्म्य।

तीसरा तरीक़ा—मानवजाति के लिए प्रेम।

मानवजाति के अत्यधिक दुःख-दर्द के तीव्र प्रत्यक्ष ज्ञान के और एक

स्पष्ट दृष्टि के परिणाम-स्वरूप इस दुःख-दर्द को समाप्त कर देने के लिए अपने-आपको पूरी तरह समर्पित कर देने का संकल्प उठता है।

चाहे कितनी भी कम मात्रा में क्यों न हो, औरों की सहायता करने के लिए अपने समस्त विचार, अपनी समस्त शक्ति, अपने सारे क्रिया-कलाप अर्पित कर देने में आत्म-विस्मृति।

"करुणा से उमड़ते हृदयों के साथ दुःख-पीड़ित संसार में जाओ, प्रशिक्षक बनो, जहाँ कहीं अविद्या-अन्धकार का राज्य है वहाँ ज्योति जगाओ।"

मानवजाति के प्रति समर्पण चार क्षेत्रों में अभिव्यक्त होता है। तुम औरों को चार तरह से दे सकते हो :

भौतिक उपहार। बौद्धिक उपहार : ज्ञान। आध्यात्मिक उपहार : सामञ्जस्य, सुन्दरता, लय। सम्पूर्ण उपहार, उदाहरण का उपहार : उन्हीं लोगों के द्वारा चरितार्थ किया जा सकता है जिन्होंने तीनों मार्गों का अनुसरण किया है, जिन्होंने अपने अन्दर विकास के सभी तरीक़ों का, शाश्वत के बारे में सचेतन होने का समन्वय कर लिया है। एक ऐसा उदाहरण जो अपने ही बारे में नहीं सोचता, तुम उदाहरण बनते हो क्योंकि तुम **हो**, क्योंकि तुम 'शाश्वत दिव्य चेतना' में निवास करते हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. १४५-४७

हम जिन भगवान् को खोजते हैं वे सुदूर और अगम्य नहीं हैं। वे अपनी सृष्टि के हृदय में हैं और चाहते हैं कि हम उन्हें खोजें, और अपने निजी रूपान्तर द्वारा उन्हें जानने के योग्य बनें, उनके साथ एक होने और अन्त में, सचेतन रूप से उन्हें अभिव्यक्त करने-योग्य बनें। हमें अपने-आपको इसके लिए अर्पित करना चाहिये, हमारे जीवन का यही सच्चा प्रयोजन है। और इस उच्चतर उपलब्धि के लिए हमारा पहला क़दम है, अतिमानसिक 'चेतना' की अभिव्यक्ति।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ३७७

योग में सिद्धि

सच पूछा जाये तो कोई भी मनुष्य अपने निजी सामर्थ्य के द्वारा योग में सिद्धि नहीं प्राप्त करता—सिद्धि तो उस महत्तर शक्ति के द्वारा आती है जो तुम्हारे ऊपर आसीन है—और समस्त उतार-चढ़ावों में से गुज़रते हुए, लगातार उस शक्ति को पुकारते रहने से ही वह सिद्धि आती है। उस समय भी, जब कि तुम सक्रिय रूप से अभीप्सा नहीं कर सकते, सहायता के लिए श्रीमाँ की ओर मुड़े रहो—यही एकमात्र चीज़ है जिसे सर्वदा करना चाहिये।
CWSA खण्ड ३२, पृ. २९४

जगत् में जो कुछ होता है उस सबमें, सब कार्यों के पीछे भगवान् अपनी शक्ति के द्वारा रहते हैं, किन्तु वे अपनी योगमाया से ढके रहते हैं और इस अपरा प्रकृति में जीव के अहंकार के द्वारा कार्य करते हैं।

योग में भी भगवान् ही साधक हैं और साधना भी; यह उन्हीं की शक्ति है जो अपने प्रकाश, बल, ज्ञान, चेतना और आनन्द से आधार पर क्रिया करती है और जब आधार इस शक्ति की ओर खुल जाता है तो उसमें अपनी इन दिव्य शक्तियों को भरती है, जिनसे साधना सम्भव होती है, परन्तु जब तक निम्न प्रकृति सक्रिय है तब तक साधक के व्यक्तिगत प्रयत्न की आवश्यकता बनी रहती है।

जिस व्यक्तिगत प्रयत्न की आवश्यकता है वह है अभीप्सा, त्याग और समर्पण की तिहरी साधना।...
CWSA खण्ड ३२, पृ. ६

... सावधान रहो, अपने छोटे से पार्थिव मन से माँ को समझने और परखने की कोशिश मत करो क्योंकि यह मन अपने संकुचित तर्क, भूलभरी राय, अपने झगड़ालू, आक्रमणशील अगाध अज्ञान और तुच्छ आत्म-विश्वासी ज्ञान के भरोसे अपने से परे की चीज़ों को मापने में मज़ा लेता है। अपने अर्ध-प्रकाशित अज्ञान की कारा में बन्द मानव मन दिव्य शक्ति के चरणों की बहुमुखी स्वाधीनता का साथ नहीं दे सकता। उनकी दृष्टि और क्रिया की द्रुत गति और जटिलता उसकी लड़खड़ाती समझ को पीछे छोड़ जाती है। माता

की गति की लय उसकी लय नहीं है। उनके अनेक और भिन्न व्यक्तित्वों के द्रुत परिवर्तनों से, उनके लयों के निर्माण और छन्दों के भंग से, उनके गति को बढ़ाने और घटाने से, एक या अन्य समस्या पर विचार करने के उनके विभिन्न तरीक़ों में कभी एक और कभी दूसरी पद्धति के ग्रहण करने और त्याग देने और फिर दोनों को मिलाने वाले तरीक़ों से विमूढ़ बना मन अज्ञान के आवर्त में से दिव्य प्रकाश की ओर चक्राकार और वेगपूर्वक उड़ती हुई पराशक्ति की पद्धति को नहीं समझ सकेगा। ज़्यादा अच्छा यह है कि तुम अपनी अन्तरात्मा को उनकी ओर खोलो और अपनी चैत्य दृष्टि के द्वारा अनुभव करके और चैत्य दृष्टि से दर्शन करके तृप्ति-लाभ करो क्योंकि केवल वे ही दिव्य सत्य को सीधा उत्तर दे सकती हैं। उसके बाद स्वयं माता मन, हृदय, प्राण और भौतिक चेतना में उनके चैत्य तत्त्वों के द्वारा अपनी कार्य-प्रणाली और अपनी प्रकृति को प्रकट कर देंगी।

हमारा अज्ञान-भरा मन सदा यह भूल-भरी माँग करता है कि दिव्य शक्ति हमेशा हमारी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता-सम्बन्धी उथली और अधकचरी धारणाओं के अनुसार काम करे। इस भूल-भरी माँग से बचते रहो। क्योंकि हमारा मन हर मोड़ पर, अलौकिक शक्ति, सरल सफलता तथा चौंधियाने वाले तेज से चकित होने के लिए शोर मचाता रहता है। ऐसा न हो तो वह इस बात पर विश्वास नहीं कर सकता कि भगवान् यहाँ मौजूद हैं। माता अविद्या के क्षेत्र में उतर कर अविद्या के साथ जूझ रही हैं, वे इस क्षेत्र में नीचे उतर आयी हैं और पूरी तरह ऊर्ध्वलोक में नहीं हैं। वे अपने ज्ञान और शक्ति को कुछ खोलती और कुछ छिपाती हैं।

... भागवत 'चेतना' और 'शक्ति' यहाँ उपस्थित हैं... लेकिन तुम्हारे अन्दर अतिमानस के उतरने पर ही माता तुम्हारे साथ सीधी अतिमानस-शक्ति के रूप में अतिमानस-प्रकृति के अनुसार काम कर सकती हैं। अगर तुम मन के पीछे चलो तो माता के सामने प्रकट होने पर भी तुम उन्हें पहचान न सकोगे। अपनी अन्तरात्मा का अनुसरण करो, मन का नहीं, अपनी उस अन्तरात्मा का जो सत्य को प्रत्युत्तर देती है, उस मन का नहीं जो बाहरी रूपों पर कूदता है। दिव्य शक्ति पर विश्वास करो और वह तुम्हारे अन्दर के भागवत तत्त्वों को मुक्त कर देगी और उन सबको एक दिव्य प्रकृति की अभिव्यक्ति बना देगी। CWSA खण्ड ३२, पृ. २५-२६

सच्चे जीवन की कुञ्जी

सच्चा जीवन जीने की कुञ्जी है—पूर्ण निर्भरता के मनोभाव को ग्रहण करना—यह सबसे अधिक पूर्ण साधना का महान् रहस्य है।...

"निर्भर होने" का अर्थ है, चाहे जैसी भी कठिनाइयाँ क्यों न हों, भगवान् पर भरोसा रखना, उन्हीं पर निर्भर रहना। जब सब कुछ सही चल रहा हो तब "निर्भरता" बहुत अधिक मायने नहीं रखती। तुम्हें एक तरह का सामञ्जस्यमय सन्तुलन रखना चाहिये और तुम अपने-आपको उसमें विकसित कर सकते हो।...

... अब आप मुझे यह बतलाइये कि जब प्राण सिर उठाये तो मैं निर्भर कैसे रह सकता हूँ। त्याग के द्वारा? अलगाव के द्वारा?

पहले अलगाव—फिर त्याग के साथ अलगाव।

मैं अपने-आपको अलग कैसे कर सकता हूँ जब अन्दर असन्तोष का एक सूक्ष्म खिंचाव लगातार बना ही रहता है?

असन्तोष से अपने-आपको अलग कर लो।

क्या मैं हल्ला मचाऊँ—"भाड़ में जाये सब कुछ; चिन्ता मत करो, भले ही निम्न प्राण का विस्फोट ही क्यों न हो जाये। सब कुछ ठीक हो जायेगा"?

यह निर्भर होना नहीं है।...

अलगाव का अर्थ है कि तुम्हारे अन्दर के 'साक्षी' को पीछे हट कर खड़ा रहना चाहिये और उस गति को अपनी (स्वयं अन्तरात्मा की) गति के रूप में देखने से एकदम इनकार कर देना चाहिये, तुम्हें उसे ऐसे देखना होगा मानों वह तुम्हारे अतीत की प्रकृति की आदत हो या सामान्य 'प्रकृति' का तुम पर आक्रमण हो। और उसके साथ तुम्हें ऐसे ही व्यवहार करना होगा। ऐसा करना कठिन जान पड़ सकता है, लेकिन इसमें डटे रहने से चीज़ एकदम ठीक हो जायेगी।

(श्रीअरविन्द के साथ नीरदवरण की बातचीत का एक अंश)

अगर व्यक्ति के अन्दर भागवत कृपा पर श्रद्धा है कि भागवत कृपा उस पर नज़र रखे हुए है और चाहे कुछ भी क्यों न हो जाये, भागवत कृपा तो है ही, उसकी निगरानी कर रही है तो वह इस श्रद्धा को हमेशा और सारे जीवन रख सकता है, और यह हो तो वह ख़तरों में से गुज़र सकता है, सब प्रकार की कठिनाइयों का सामना कर सकता है और कोई उसका बाल भी बाँका न कर सकेगा, क्योंकि उसके अन्दर श्रद्धा है और भागवत कृपा उसके साथ है। यह अनन्तगुनी शक्तिशाली, अधिक सचेतन, और अधिक स्थायी शक्ति है जो तुम्हारे शारीरिक गठन की अवस्था पर निर्भर नहीं करती, जो भागवत कृपा के सिवा किसी अन्य पर निर्भर नहीं करती, और इसलिए सत्य का सहारा लिये रहती है और कोई भी चीज़ उसे हिला नहीं सकती।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ३२७

पते की बात

जो पाठ हमें सीखना है वह है, भगवान् पर पूरा भरोसा रखना। बाक़ी सब कुछ अपने-आप अपनी जगह पर बैठ जायेगा। हमें छोटी-से-छोटी ज़रूरत के लिए भी प्रभु की ओर ही मुड़ना चाहिये—और एक सौभाग्यशाली दिवस पर हम देखेंगे कि हमें किसी भी चीज़ की ज़रूरत नहीं है; हमारी एक और एकमात्र आवश्यकता हैं भगवान्! जब ऐसा होता है तो हर क्षण बिना किसी परिश्रम के, सहज-स्वाभाविक रूप से, ठीक समय पर हमारे हाथ में आवश्यक वस्तु आ जाती है। किसी वस्तु की आवश्यकता का अनुभव करने से पहले वह हमारे सम्मुख प्रकट हो जाती है। सब कुछ ठीक समय पर, ठीक तरीक़े से आगे-ही-आगे बढ़ता रहता है। तब व्यक्ति जीवन-पथ पर सम्राट् की भाँति बढ़ता है। जब किसी राजा की सवारी निकलती है तो उनके लिए पथ को पहले से ही तैयार कर दिया जाता है : उन्हें किसी भी चीज़ की माँग नहीं करनी होती। उनकी सभी आवश्यकताओं का पहले से ही अनुमान लगा कर सब कुछ यथासमय प्रदान कर दिया जाता है।

परिशिष्ट :

टी.वी.कपाली शास्त्री के अवलोकन

(१)

विश्वास करो कि मेरी श्रद्धा और मेरी भक्ति आदर्श या पूर्ण नहीं हैं। फिर भी माँ——मात्र इस नाम ने ही मेरे लिए इतना कुछ कर दिया है जिसे अपने अगले कई जन्मों में पाना मेरे लिए असम्भव होता। प्रत्येक सप्ताह मेरे सम्मुख नये-नये दृश्य प्रकट होते हैं। मैं ऐसी किसी भी योग-पद्धति को नहीं जानता जो मानव सत्ता को चुटकी में दलदल से निकाल कर भगवती माता की उच्च तुंगताओं तक उठा ले जाती है।...

मेरे अन्दर बस एक ही विचार है : और वह है माँ।

(२)

'कृपा' उनसे ऐसे झरती है जैसे सूरज से 'प्रकाश'। भला मैं उनसे क्यों न पूछूँ, जो कुछ मैं चाहता हूँ उनसे क्यों न मागूँ?... जब मैं भगवान् से अपनी नैतिक अपूर्णताओं को दूर हटाने के लिए प्रार्थना कर सकता हूँ तो अपनी कुछ परेशानियों इत्यादि से पीछा छुड़ाने के लिए क्यों न प्रार्थना करूँ? निश्चय ही, उनका जो भी उत्तर आये, मुझे उसे प्रार्थना और समर्पण के इसी मनोभाव से लेना चाहिये—"तेरी ही इच्छा चरितार्थ हो"।

(३)

रास्ता लम्बा और परिश्रमपूर्ण है; लेकिन चूँकि इस योग में व्यक्ति अकेला पथ नहीं तय करता, चूँकि व्यक्ति अपने समय में यह बात जान लेता है, वह उनकी 'उपस्थिति' का अनुभव करने लगता है, तब वह श्रीमाँ की 'कृपा' के प्रकाश को अपने साथ-साथ चलते देखता है और उसके अन्दर किसी भी तरह की बेचैनी, भय या असफलता की सम्भावना ही नहीं होती। आवश्यकता है बस शक्ति की, बल की। केवल 'वे' ही वह प्रदान कर सकती हैं, और जैसे-जैसे हम विकसित होते जाते हैं इसे वे निश्चित रूप से करती ही हैं, या फिर अपने-आप ही हमारे विकास को तेज़ कर देती हैं।

'Flame of white Light' पुस्तक से

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

अक्तूबर

१. जब मनुष्य उस मिथ्यात्व से घृणा करने लगेंगे जिसमें वे निवास करते हैं, तब संसार दिव्य सत्य के राज्य के लिए तैयार होगा।

२. अगर तुम अपने अन्दर से उन चीज़ों का उन्मूलन कर दो जो संसार में भ्रान्तिपूर्ण हैं तो संसार भ्रान्तिपूर्ण न रहेगा।

३. यह न सोचो कि तुम क्या थे, केवल उसी के बारे में सोचो जो तुम बनना चाहते हो और तुम निश्चय ही प्रगति करोगे।

४. ग्रहणशील बनो और नमनीय बनो।

५. समस्त विक्षोभ के बावजूद सत्य की विजय होगी।

६. अस्तव्यस्तता के अन्दर भी भागवत व्यवस्था का बीज है।

७. सच्चाई भागवत द्वारों की चाबी है।

८. सभी परदों को विलीन हो जाना चाहिये और सभी के हृदय में प्रकाश को पूरी तरह चमकना चाहिये।

९. हर क्षण तुम्हें सब कुछ पाने के लिए सब कुछ खोना जानना चाहिये, ज़्यादा महान् प्रचुरता में नया जीवन पाने के लिए भूतकाल को एक मृत शरीर की तरह छोड़ना जानना चाहिये।

१०. बीती को बीत जाने दो, केवल तुम्हें जो प्रगति करनी है उसी पर केन्द्रित होओ, भगवान् के प्रति उस समर्पण पर केन्द्रित होओ जो तुम्हें चरितार्थ करना है।

११. वास्तव में भूतकाल को भूल जाना और सोचने की आदत से पिण्ड छुड़ाना कठिन काम है और उसके लिए कठोर "तपस्या" की ज़रूरत होती है, लेकिन अगर तुम्हें भागवत कृपा पर श्रद्धा है और तुम पूरे हृदय से याचना करो तो तुम आसानी से सफल होगे।

१२. वर्तमान ही जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण क्षण है।

१३. भय और संकोच के बिना, हमेशा अधिक ऊँचे, अधिक दूर उड़ो।

१४. प्रगति : वह कारण जिसके लिए हम धरती पर हैं।

१५. जीवन गति है, जीवन प्रयास है, वह आगे कूच कर रहा है, भावी अन्तःप्रकाशों और उपलब्धियों की ओर चढ़ रहा है। आराम करना चाहने से बढ़ कर ख़तरनाक कुछ नहीं है।

१६. तुम्हें हमेशा कुछ सीखना होता है, कुछ प्रगति करनी होती है और हर स्थिति में हम सीखने और प्रगति करने का अवसर पा सकते हैं।

१७. लक्ष्य को कभी न भूलो। अभीप्सा करना कभी बन्द न करो, अपनी प्रगति में कभी न रुको और निश्चय ही तुम सफल होओगे।

१८. सफलता की शक्ति : उन लोगों की शक्ति जो अपने प्रयास को जारी रखना जानते हैं।

१९. केवल कोशिश करना काफ़ी नहीं है, तुम्हें सफल होना चाहिये।

२०. सफलता पूरी तरह सच्चाई पर निर्भर करती है।

२१. विजय निश्चित है और इस निश्चिति के साथ धैर्यपूर्वक हम कितने ही ग़लत सुझावों और विरोधी आक्रमणों का सामना कर सकते हैं।

२२. सफलता में से गुज़रना दुर्भाग्य में से गुज़रने की अपेक्षा अधिक कठिन अग्नि-परीक्षा है।

२३. सफलता की घड़ी में मनुष्य को अपने-आपसे ऊपर उठने में अधिक जागरूक रहना चाहिये।

२४. बाहर साहस, भीतर शान्ति और भागवत कृपा पर अटल विश्वास।

२५. विजय की निश्चिति अधिकाधिक ऊर्जा के साथ अनन्त धैर्य प्रदान करती है।

२६. अपने-आपको भागवत चेतना में खो देना लक्ष्य नहीं है। वह है, भागवत चेतना को जड़-द्रव्य में प्रविष्ट होने देना और उसे रूपान्तरित करना।

२७. भगवान् के प्रति आज्ञाकारिता में सरलता के साथ सच्चे रहो—वह तुम्हें रूपान्तर के मार्ग पर दूर तक ले जायेगी।

२८. दिव्य शक्ति अभिव्यक्त होने के लिए प्रतीक्षा कर रही है। हमें नये-नये रूपों की खोज करना चाहिये जिनके द्वारा वह अभिव्यक्त हो सके।

२९. मेरा हृदय तेरी दिव्य विजय के लिए बहुत विशाल होने की अभीप्सा करता है।

३०. आज की आशाएँ भावी कल की उपलब्धियाँ हैं।

३१. सच्ची आध्यात्मिकता **बहुत** सरल होती है।

'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन'

भागवत चेतना के साथ नाता जोड़ना

एक ओर तुमको अपने-आपको उच्चतर चेतना, भागवत चेतना की ओर खोलना चाहिये और दूसरी ओर तुम्हें अपने-आपको क्षैतिज प्रभाव की ओर से बन्द कर लेना चाहिये। बाद में यदि तुम औरों की सहायता करना चाहो तो तुमको उनके स्पन्दन अपने अन्दर लेने होंगे। तुमको अपने-आपको खोल कर चीज़ों को अपने अन्दर लेना होगा। तुम ऐसे स्पन्दन भेज सकते हो जिन्हें हर एक अपनी तैयारी के अनुसार ग्रहण करेगा और लाभ उठायेगा। अगर तुम यह न कर सको तो तुम लोगों की सहायता नहीं कर सकते। परन्तु क्या मानवता की इससे बढ़ कर कोई सहायता हो सकती है कि तुम दिव्य चेतना को दृढ़ता के साथ अपने अन्दर और चारों ओर स्थापित कर लो और मन, प्राण और शरीर तथा निचले स्तरों में उन स्पन्दनों को फैलाने के लिए केन्द्र बन सको। क्या इससे बड़ी कोई सेवा हो सकती है? मैं तो इससे बड़ी सेवा का स्वप्न भी नहीं देख सकता। अगर तुम उनके स्पन्दनों को सभी स्तरों पर फैला सको तो वहाँ की सभी समस्याओं का समाधान भी कर सकोगे। यद्यपि मैं **तुम** शब्द का उपयोग कर रहा हूँ लेकिन तुम उन समस्याओं को अपने ऊपर नहीं ले रहे बल्कि वास्तव में तुम्हारे द्वारा भगवान् ने सारी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले ली है। यदि तुम भगवान् के साथ एक हो सको तो हर व्यक्ति जिससे तुम मिलो, जिससे तुम बोलो उसके साथ वे ही मिल रहे और बोल रहे होंगे और उनके पास सब समाधान होंगे। यहाँ तक हो सकता है कि तुम औरों का रोग अपने ऊपर ले लो और उसे ठीक कर दो क्योंकि सारी चीज़ वे ही ले रहे और ठीक कर रहे होंगे। समर्पित हुए बिना तुम चेतना-सागर में तैरने का आनन्द कैसे पा सकते हो? और कैसे जान सकोगे कि ज्योति के सागर में होने का क्या अर्थ है? जब तुम उनके साथ एक हो जाते हो तो चीज़ें अपने-आप होने लगती हैं। तुम न तो उन्हें स्वीकर करते और न अस्वीकार करते हो। वे ही अपने प्रयोजन के लिए तुम्हारे द्वारा स्वीकार और अस्वीकार करते हैं। जब तक यह न हो जाये तब तक तुम ही स्वीकार या अस्वीकार करते

हो। यह चुनाव अच्छा हो सकता है, वह साधना हो सकती है, परन्तु सिद्धि नहीं। जैसे-जैसे तुम आन्तरिक लोकों के बारे में अधिकाधिक सचेतन होते हो वैसे-वैसे यह पद्धति तेज़ होती जाती है। भागवत चेतना के साथ नाता कैसे जोड़ा जाये? यहाँ एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष आ जाता है। भगवान् निर्गुण और सगुण दोनों हैं, निराकार और साकार दोनों हैं। दोनों कैसे हो सकते हैं? भगवान् केवल एक हैं और हैं सर्वव्यापक। साकार निराकार पर अध्यारोपित है। दिव्य चेतना तक कई द्वारों से पहुँचा जा सकता है। हम श्रीअरविन्द के भौतिक शरीर पर एकाग्र होकर प्रवेश कर सकते हैं, कोई और श्रीकृष्ण पर एकाग्र होकर या कोई तीसरा किसी ऐसे व्यक्ति के भौतिक शरीर पर एकाग्र होकर प्रवेश कर सकता है जिसने भगवान् को पा लिया है। भौतिक शरीर निराकार पर अध्यारोपण है, लेकिन सिद्ध पुरुष की चेतना पूरी तरह भगवान् के साथ एक हो जाती है। तो साकार और निराकार को हमारी चेतना में भेद-भाव न पैदा करना चाहिये। माताजी ने मुझसे कहा था कि इसके बीच सचमुच कोई फ़र्क नहीं है। एक दिन मैंने उनसे पूछा कि मैं उनके साकार रूप पर ध्यान किया करूँ या निराकार पर? माताजी ने उत्तर दिया, "दोनों में फ़र्क क्या है? अगर तुम यह सोचो कि केवल यह शरीर ही भगवान् है तो तुम मेरी शक्ति को २५ प्रतिशत सीमित कर देते हो। जब लोग मेरे साथ बोलते हैं तो चीज़ वहाँ ऊपर चली जाती है। जब मुझे उत्तर देना होता है तो उत्तर आता है।" हम सबके साथ ऐसा ही होना चाहिये। हम यहाँ केवल बातचीत करने के लिए इकट्ठे नहीं हुए हैं, हमें समझना और अभ्यास करना चाहिये। अभ्यास किये बिना हम यह भी न समझ पायेंगे कि यह चीज़ कैसे कार्य करती है।

अब हम सगुण और निर्गुण के भेद पर आते हैं। हम भगवान् के सहस्र रूपों, अनन्त पहलुओं की बात करते हैं। माताजी और श्रीअरविन्द के अनुसार हमें भगवान् को उनके सभी रूपों में प्रकट करना है—उनके रोग-मुक्त करने की शक्ति, उनके ज्ञान की शक्ति, आदि सभी रूपों में उन्हें प्रकट करना है। लेकिन यह कैसे हो सकता है? सगुण अपने अनन्त रूपों में अपने-आपको प्रकट करता है। इसके लिए तुम्हें निर्गुण को भी पाना होगा और उसे सगुण के सभी रूपों में अभिव्यक्त करना होगा। श्रीअरविन्द के योग में ऐसा समन्वय है कि किसी भी चीज़ को छोड़ा नहीं जाता। एक

ऐसी समग्रता है जो अतिमानसिकता के भी परे चली जायेगी। तुम उसे कभी पूरा न कर पाओगे। कोई कभी पूरा न कर सकेगा। भगवान् अनन्त हैं, अतः उनकी अभिव्यक्ति भी हमेशा अनन्त रहेगी। इसके अतिरिक्त, यह एक अनन्त लीला में, एक अनन्त खेल में भाग लेना है, उसके आनन्द की सीमा कहाँ है? वह तो असीम आनन्द है। एक दिन तुम उन्हें एक रूप में प्रकट कर सकते हो, दूसरे दिन संगीत में और तीसरे दिन किसी और रूप में। उनके गुण, उनके सगुण रूप अनन्त हैं, उनकी अभिव्यक्ति का कोई अन्त नहीं है। उनके प्रत्येक पक्ष को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने के लिए नये यन्त्रों का निर्माण करना होगा। सूक्ष्मजैविकी में अब हमने शायद नयी और महान् सम्भावनाओं को देखना शुरू कर दिया है। हो सकता है कि एक दिन आध्यात्मिकता और सूक्ष्मजैविकी एक हो जायें। आध्यात्मिकता में मूर्तीकरण और अमूर्तीकरण कोई नयी चीज़ें नहीं हैं।

(क्रमशः)

—नवजातजी

स्वर्ग के देवता भी होड़ लगायें...

यशपालजी की कहानी की पुनरावृत्ति—

कुरुक्षेत्र का भयंकर युद्ध... बड़े-बड़े दिग्गज प्रतिदिन यहाँ खेत हो रहे थे, चारों ओर नर-संहार का ताण्डव नृत्य चल रहा था। एक दिन भीमसेन युद्ध में अकेले पड़ गये और उनका पौरुष अदम्य हो उठा, चारों ओर से शत्रु-सेना उन्हें घेरने लगी थी और वे भी उसे नष्ट कर देने पर तुले थे। अचानक उन्होंने अपने सारथि विशोक से कहा—"इस समय मैं देवताओं से एक ही प्रार्थना करता हूँ कि अर्जुन यहाँ आ जायें।" यह बात न थी कि उन्हें अपने प्राणों का भय था बल्कि उनका मन तो अटका था राजा युधिष्ठिर में। वे बाणों से बहुत आहत हो गये थे, अर्जुन उन्हें देखने गये थे और अभी तक लौट कर नहीं आये थे...

उनकी बात पूरी होते-न-होते विशोक ने हँस कर कहा—"राजन्, आपकी मनोकामना पूर्ण हो गयी। भगवान् श्रीकृष्ण आपके पक्ष में हैं न, अतः देवताओं को आप लोगों की प्रार्थना तुरन्त सुन लेने का अच्छा अभ्यास हो गया है। सुनिये, अपने सव्यसाची अनुज के धनुष का भयंकर ज्याघोष

महाराज, और देखिये उनके ध्वजदण्ड के पास बैठे केसरीनन्दन ध्वजा पर चढ़ कर चारों ओर कैसे ताक रहे हैं, उनकी दृष्टि से दूसरे तो दूर, मैं स्वयं डर के मारे काँप रहा हूँ राजन्।"

भीमसेन हँसे, "वे श्रीरामदूत पवनपुत्र होने के कारण मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं विशोक, और हम सबके पूज्य हैं। उनके असीम पौरुष का तो अनुमान लगाना भी सम्भव नहीं, लेकिन उनसे डरो मत, इस युद्ध में वे शान्त रहेंगे।"

विशोक ने कहा, "जानता हूँ राजन् कि वे अपने पक्ष में हैं किन्तु उनका विकट भयंकर मुख तथा उग्र दृष्टि देख कर सभी के हृदय काँपने लगते हैं। शत्रुसेना में भगदड़ मच जाती है।"

विशोक की बात सच थी। वैसे तो हनुमानजी अर्जुन के रथ की ध्वजा पर प्रायः चुपचाप सिर नीचा किये बैठे रहते थे, लेकिन कभी-कभी कुतूहलवश जब वे ध्वजा पर चढ़ कर चारों ओर देखने लगते तो उनकी उस आग्नेय दृष्टि से शत्रु-पक्ष में त्राहि-त्राहि मच जाती थी; और यही कारण था कि अर्जुन के सभी प्रतिपक्षी आरम्भ से ही हनुमानजी पर भी बाण-वर्षा कर रहे थे ताकि उनके आघात से वे रथ छोड़ कर भाग जायें, लेकिन उन वज्रदेह आञ्जनेय के शरीर पर त्रेतायुग में मेघनाद और रावण के शराघात से भी व्रण नहीं होता था, द्वापरान्त के इन मानव प्राणियों की क्या बिसात! इनके बाण तो उन्हें छोटी कंकड़ियों जैसे भी नहीं लगते थे, केसरी कुमार ने कभी इस ओर ध्यान तक नहीं दिया। लेकिन आज का युद्ध तो और भी भयंकर होने वाला था, अर्जुन और कर्ण का युद्ध! भीमसेन तो यह देख कर ही आश्वस्त हो गये कि श्रीकृष्ण अर्जुन को बहुत अधिक उत्साहित कर रहे थे—जहाँ श्रीकृष्ण हों वहाँ कैसा भय! उधर कर्ण का रथ सामने खड़ा था और उसके पक्ष के सभी लोग उसे आज अर्जुन से भिड़ने के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे। कर्ण का पौरुष हुंकार कर उठा, उसने सबके सामने घोषणा की कि अर्जुन संसार का अद्वितीय महारथी है और उसके सारथि और रक्षक हैं, शंख-चक्र-गदा-पद्म धारण करने वाले साक्षात् नारायण! ऐसे श्रीकृष्ण और अर्जुन का सामना इस सेना में मेरे अतिरिक्त दूसरा कौन कर सकता है भला? और उसने तत्काल यह प्रण ले लिया कि या तो मैं इन्हें आज मार दूँगा या फिर ये मेरा शव यहाँ बिछा देंगे। युद्ध प्रारम्भ होते ही अर्जुन ने ऐसी बाण-वृष्टि की कि कौरव-सेना भाग खड़ी हुई। कर्ण के

पुकारने पर भी कोई न रुका। युद्ध में कर्ण अकेला रह गया।

लेकिन एकाकी पड़ कर भी वीर कर्ण न डरा, न घबराया। उसने भी बाणों की बौछार प्रारम्भ कर दी और अन्त में उसके बाणों से श्रीकृष्ण का कवच कट कर गिर पड़ा और उनके सुकुमार अंगों पर उसके तीक्ष्ण शर लगने लगे। पवनपुत्र एकटक नीचे अपने इन आराध्य की ही ओर देख रहे थे। कर्ण इनके कवचहीन श्रीअंग पर निरन्तर बाण-वर्षा करता ही चला जा रहा है यह उनसे और सहा नहीं गया। अकस्मात् ऐसी घोर गर्जना के साथ दोनों हाथ उठा कर हनुमान कर्ण का वध करने के लिए उठ खड़े हुए कि धरती-आकाश डोल उठे।

श्रीकृष्ण ने तुरन्त अपना दाहिना हाथ उठाया और हनुमानजी का स्पर्श कर सावधान किया—"रुको! पवनपुत्र, यह तुम्हारे क्रोध करने का समय नहीं है।" अपने प्रभु के कहने पर आञ्जनेय रुक तो गये, लेकिन उनकी पूँछ तन कर आकाश में हिलने लगी, उनकी मुट्ठियाँ बँधी थीं, वे दाँत किटकिटा रहे थे और आग्नेय नेत्रों से कर्ण को घूरे जा रहे थे। शल्य और कर्ण दोनों के शरीर पत्ते की भाँति काँप रहे थे, वे पसीना-पसीना हो गये और दोनों ने दृष्टि झुका ली। "हनुमान, मेरी ओर देखो", श्रीकृष्ण ने कुछ कड़े स्वर में कहा, "तुम इस प्रकार देखोगे तो कर्ण कुछ ही क्षणों में तुम्हारी इस आग्नेय दृष्टि से जल कर भस्म हो जायेगा। यह त्रेतायुग नहीं है। तुम्हारे पराक्रम को तो दूर, तुम्हारे तेज को भी कोई यहाँ सह नहीं सकता। तुमको मैंने इस युद्ध में शान्त रह कर बैठे रहने को कहा है न!"

हनुमानजी ने अपने आराध्य की ओर देखा और देखते ही एकदम शान्त हो गये। उनके सम्मुख तो वे ही स्वस्थ, सुन्दर, श्रीशोभायुक्त घनश्याम खड़े मुस्कुरा रहे थे। स्मरण हो आया कि लंका में भी तो प्रभु ऐसे ही रणक्रीड़ा करते थे। इन्द्रजित् या रावण के पराक्रम का सम्मान करने के लिए अपने श्रीअंग पर बाण सहते थे, रक्तस्राव तथा व्रण दिखलाते थे लेकिन सन्ध्या-समय, युद्ध के बाद यह स्पष्ट हो जाता था कि उनके सच्चिदानन्दघन श्रीविग्रह को कोई बाण छू भी नहीं पाता था। यह कोई पार्थिव शरीर है कि बाण उसमें विकार पैदा कर सकें! प्रभु तो यहाँ भी वही रणक्रीड़ा कर रहे हैं।

"मैंने प्रभु की आज्ञा की अवज्ञा की", यह सोच कर इतना पश्चात्ताप हुआ हनुमानजी को कि दोनों हाथों के वज्र-नखों से अपना वक्ष विदीर्ण

करने को वे उद्यत हो उठे।

"हनुमान, मेरे बच्चे," श्रीकृष्ण के करों ने फिर उनका स्पर्श किया और कानों में अमृत घोलती हुई उनकी वाणी सुनायी दी, "तुम शान्त बैठे रहो आञ्जनेय, और वत्स, क्या तुम समझते हो कि यह शरीर तुम्हारा अपना है कि उसे नष्ट कर दोगे? यह तो मेरा यन्त्र है, मैं चाहता हूँ कि तुम मेरे समीप ही बने रहो, इस युद्ध में किसी भी क्षण मैं कोई भी संकेत कर सकता हूँ, कभी भी मुझे तुम्हारी किसी भी सेवा की आवश्यकता हो सकती है, अतः, तुम्हें बस मेरी ही ओर देखते रहना चाहिये।"

आत्मीयता से भरे अपने प्रभु के इन वचनों से पवनपुत्र गद्‌गद हो उठे और श्रीकृष्ण ने उनकी ओर जो स्नेहभरी दृष्टि डाली कि उन्हें ऐसा लगा कि उनके जन्म-जन्मान्तर सफल हो गये। युद्ध अविराम चलता रहा। पहले तो वे कभी-कदास ध्वजा पर चढ़ कर संग्राम का दृश्य देख भी लिया करते थे, लेकिन अब तो उन्होंने वह भी बिलकुल बन्द कर दिया, प्रभु ने उन्हें कितनी बड़ी ज़िम्मेदारी सौंप दी थी!! वैसे भी उन्हें ध्वजा पर चढ़ कर इधर-उधर देखना पसन्द नहीं था, उन्हें लंका के संग्राम का स्मरण हो आता था, और उस समय के भयंकर राक्षसों के संग्राम की तुलना में ये चारों ओर दौड़ते-भागते मनुष्य, हय-गज इत्यादि कितने क्षुद्र, चींटियों जैसे लगते थे! अतः वे खिन्न होकर हमेशा ध्वजा से उतर कर दण्ड के समीप ही आ बैठते थे। और हनुमान तो इस बात से भी सर्वथा अनभिज्ञ थे कि उनके इस तरह चारों ओर देखने-मात्र से शत्रुपक्ष की सेना में कितना आतंक फैल जाता था, उनकी दृष्टि में ही इतना असह्य तेज था कि सेना भाग खड़ी होती थी, हाथी अपने ही पक्ष के लोगों को कुचलते हुए डर के मारे दूर निकल जाते थे। लेकिन यह सब तो अतीत की बातें थीं। अब तो केसरीनन्दन ऐसे अपूर्व वर्तमान में जी रहे थे कि उन्हें चारों ओर हो रहे घोर संग्राम का ज़रा भी आभास तक न हो रहा था, वह उनके लिए कोई महत्त्व भी न रखता था क्योंकि उन्हें तो उनके देवता ने ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य सौंप दिया था जिसको पाने के लिए स्वर्ग के देवता भी होड़ लगायें।

"प्रभु कभी भी कोई सेवा संकेत से सूचित कर सकते हैं", इस विचार-मात्र से भावविभोर हो केसरीनन्दन की दृष्टि अपलक अपने आराध्य के कमल-लोचनों पर जा टिकी और वे उन्हीं में तन्मय हो गये। —वन्दना

हर व्यक्ति अपने अन्दर भागवत निवासी को लिये रहता है। यद्यपि सारे विश्व में मनुष्य के जैसा दुर्बल और कोई नहीं है परन्तु उस जैसा दिव्य भी और कोई नहीं है।

श्रीमाँ

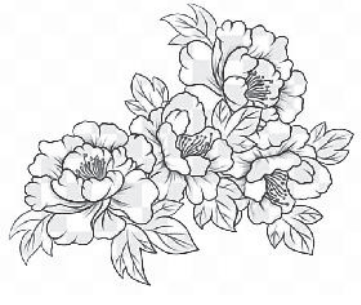

शुभ कामनाओं सहित

श्रीअरविन्द सोसाइटी राजस्थान राज्य समिति,
जयपुर ३०२०१९ (राजस्थान)
www.aurosocietyrajasthan.org

Sri Aurobindo Society
INDORE BRANCH
Creating the Next Future

विज्ञप्ति अनुरोध

'श्री अरविन्द-विश्व-निलयम्' नव-निर्माण हेतु

आदि शक्ति मां भगवती एवं परम प्रभु की असीम कृपा और आशीर्वाद से श्री अरविन्द सोसायटी पुडुचेरी शाखा इन्दौर द्वारा एअरपोर्ट के निकट सर्वे क्रमांक 126/8, छोटा बांगड़दा में अपने स्वामित्व की 13,495 वर्गफीट भूमि पर दिव्य समाज निर्माण की आध्यात्मिक गतिविधियों के संचालन हेतु एक शक्तिपीठ पूर्ण योग साधना एवं ध्यान केन्द्र श्री अरविन्द–विश्व– निलयम् के नव–निर्माण का कार्य 25 जनवरी 2021 से शुभारंभ हो चुका है।

आपको यह सूचित करते हुए अत्यंत हर्ष हो रहा है कि उक्त वृहद् कार्य –निर्माण के प्रथम चरण में तल मंजिल, प्रथम मंजिल एवं द्वितीय मंजिल जिसमें सर्व सुविधा युक्त हॉल, श्री माँ – श्री अरविन्द के दिव्य – ग्रन्थों की लायब्रेरी, अतिथि –कक्ष, किचन, डाइनिंग हॉल तथा एक रमणीय उद्यान में श्री अरविंद के दिव्य – देहांश की प्रतिष्ठा हेतु समाधि स्थल के निर्माण का लक्ष्य है। भविष्य में इसे विस्तार देने की योजना है।

इस दिव्य निर्माण कार्य की अनुमानित लागत 2.5 करोड़ रूपये है। यह कार्य सभी के सहयोग तथा सामूहिक प्रयास से ही संभव हो सकता है। आपके द्वारा दी गई दान–राशि को आयकर अधिनियम की धारा 80(G) के अंतर्गत छूट की सुविधा है।

आपकी दान–राशि "श्री अरविन्द सोसायटी इन्दौर" के नाम से Cash /Cheque /DD/ NEFT/ RTGS में स्वीकार कर रसीद प्रदान की जाएगी। आपका आर्थिक सहयोग इस दिव्य कार्य को गति प्रदान करेगा ।

निवेदक

चेअरपर्सन
डॉ.सुमन कोचर
sumankocher@rediffmail.com

सेक्रेटरी
मनोज कियावत
mkiyawat@gmail.com

Branch Office: 541, M. G. Road, Gorakund, OPP. ICICI Bank, Indore (M. P.) – 452 002
Phone: 0731- 2452500, Mob: 9826067685 ,9826066520
Email: sasindore@aurosociety.org, Website: www.sriaurobindosocietyindore.com
Head Office: Puducherry – 605 001, Website: www.aurosociety.org

आप QR कोड स्केन करके भी डोनेशन कर सकते हैं।

Bank Details –
A/C Name - Sri Aurobindo Society Indore
SB A/C No.- 0325101016104
Bank Name – Canara Bank
Branch – M. G. Road Indore – 2 (M.P.)
IFSC Code - CNRB0000325

Proposed View

Date of Publication: 1st October 2022
Rs. 30 (Monthly)

Registered: PY/47/2021-23
RNI No. 18135/70

150 BIRTH ANNIVERSARY

Azadi Ka Amrit Mahotsav

Scan for English

Scan for Hindi

THE TRANSFORMATION

A documentary on Sri Aurobindo,
who was considered the mastermind
by the British, for inspiring our leaders
to fight for independence.

नया जन्म

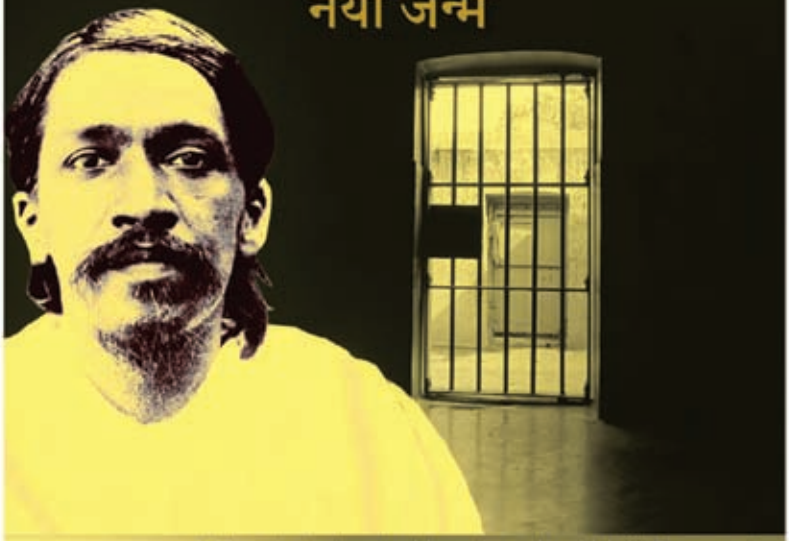

A film shot at actual locations by Abhijit Dasgupta

the film is produced by

Sri Aurobindo Society
Creating the Next Future

in collaboration with

Kolkata Sukriti Foundation
Reach the Unreached

watch on https://www.youtube.com/user/aurosocietypondy